प्रकाशक :
जयकृष्ण अग्रवाल
कृष्णा ब्रदर्स,
कचहरी रोड, अजमेर ।

: :

सर्वाधिकार सुरक्षित

: :

मूल्य रु० 3.40

मुद्रक :
एच. सी. कपूर
टाइम्स प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्मपुरी, अजमेर ।

दो शब्द

“अर्थशास्त्र की रूप रेखा” पुस्तक विशेषकर राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के नव निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार ग्यारहवीं कक्षा के लिए लिखी गई है।

पुस्तक लिखने में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि अर्थशास्त्र के विषय को प्रारम्भिक छात्रों के लिये अधिक रुचिकर व सरल बनाया जाय। भाषा सरल तथा शैली आकर्षक है। अर्थशास्त्र सम्बन्धी हिन्दी के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है जो बहुत प्रचलित और मान्य हैं। विशिष्ट शब्द हिन्दी तथा अंग्रेजी, दोनों भाषाओं में दिये गये हैं। यथास्थान चित्र, तालिकाएँ, व रेखाचित्र दिये गये हैं। प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में किसी प्रसिद्ध अर्थशास्त्री का उद्धरण तथा अन्त में अध्याय का सार व चुने हुए महत्वपूर्ण परीक्षा-प्रश्न दिये गये हैं जिससे विद्यार्थियों को विषय दोहराने में सुविधा हो। इस पुस्तक में भारत सरकार द्वारा मान्य शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

मैं उन सब लेखकों का आभारी हूँ जिनके विचारों और पाठ्य-सामग्री का इस पुस्तक में समावेश है। आशा है पाठकगण समय-समय पर अपने अमूल्य सुझाव देकर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

'तेला सदन', बाबू मोहल्ला,
अजमेर।

एस. सी.

विषय-सूची

(CONTENTS)

अध्याय		पृष्ठ
1	आवश्यकताएं और उनका वर्द्धन	1-19
2	उपभोग-अर्थ एवं महत्त्व	20-30
3	उत्पादन	31-50
4	उत्पादन के साधन या उत्पादन	51-61
5	श्रम	62-81
6	श्रम की कार्य कुशलता	82-94
7	विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन	95-120
8	पूंजी	121-140
9	मुद्रा और मौद्रिक नीति	141-161
10	विदेशी विनिमय	162-183
11	आय और उसका उपयोग	184-201
12	राष्ट्रीय आय	202-225
13	राजवित्त	226-247
14	आर्थिक प्रणालियाँ	248-259
15	पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था	260-273
16	समाजवादी अर्थ व्यवस्था	274-287
17	मिश्रित अर्थ व्यवस्था	288-303
18	महात्मा गांधी के आर्थिक विचार	304-316
19	नियोजित अर्थ व्यवस्था	317-332

आवश्यकताएँ और उनकी संख्या वर्द्धन

WANTS AND THEIR MULTIPLICATION

"अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मानव व्यवहार का आवश्यकता :हित अवस्था में पहुँचने के लिए साधन के रूप में अध्ययन करता है।"

प्रो. जे. के. मेहता

मनुष्य प्रातःकाल से सायंकाल तक प्रतिदिन और जन्म से मृत्यु तक जीवन भर अनेक प्रकार की असंख्य आवश्यकताओं का अनुभव करता है। वह इनमें से अधिक से अधिक आवश्यकताओं को पूरा करके अधिक से अधिक संतुष्टि प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वास्तव में मनुष्य का अधिकांश जीवन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाने और उन साधनों से इनकी पूर्ति करने में ही व्यतीत होता है। इस प्रकार आवश्यकतायें ही आर्थिक क्रियाओं की प्रेरक शक्ति हैं। आवश्यकताओं के कारण ही आर्थिक प्रयत्न किये जाते हैं जिनसे उत्पादन होता है जिसका उपयोग पुनः आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए किया जाता है।

आवश्यकता का अर्थ (Meaning of Want)

साधारण भाषा में आवश्यकता (want), इच्छा, आकांक्षा, चाह, अभिलाषा, कामना आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं।

किन्तु अर्थशास्त्र में "आवश्यकता" शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। एक व्यक्ति के मन और मस्तिष्क में किसी वस्तु को प्राप्त करने या किसी कार्य को करने की इच्छा या अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है परन्तु उसको पूरा करने के लिए यदि उसके पास साधन नहीं हैं तो उसे अर्थशास्त्र में आवश्यकता नहीं कहा जायगा। मनुष्य प्रतिदिन ही भोजन, वस्त्र, मकान, मोटर, पुस्तक, मक्खन, आभूषण आदि अनेक वस्तुयें चाहता है। किन्तु इनमें से कुछ को प्राप्त करने में समर्थ होता है और कुछ को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है। जिन वस्तुओं को वह प्राप्त नहीं कर पाता या जिन इच्छाओं की वह पूर्ति नहीं कर पाता वे केवल इच्छा (Desire) मात्र ही रह जाती है। जिन इच्छाओं की पूर्ति करने में मनुष्य समर्थ और तत्पर होता है उन्हें प्रभावोत्पादक इच्छायें कहते हैं। अर्थशास्त्र में इन प्रभावोत्पादक इच्छाओं (Effective desires) को ही आवश्यकतायें कहते हैं।

घड़ी खरीदने की इच्छा है, मेरे पास घड़ी खरीदने के लिए पर्याप्त धन है और मैं घड़ी प्राप्त करने के लिए इस धन को देने को भी तैयार हूँ तो मेरी घड़ी की इच्छा आवश्यकता कहलायेगी। इसके विपरीत यदि मेरे पास घड़ी खरीदने के लिए धन नहीं है या धन तो है किन्तु मैं घड़ी के लिए धन नहीं खर्च करना चाहता तो घड़ी के लिए मेरी इच्छा ही मानी जायगी, आवश्यकता नहीं। अतः प्रत्येक आवश्यकता के लिए इच्छा होना आवश्यक है किन्तु प्रत्येक इच्छा को आवश्यकता नहीं कह सकते। केवल प्रभावोत्पादक इच्छा या ऐसी इच्छा जिसकी पूर्ति के लिए हमारे पास साधन हों और साधनों का त्याग करने को तत्पर हों आवश्यकता कहलाती है।

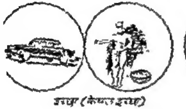

इच्छा (केवल इच्छा)

आवश्यकता = इच्छा + साधन + त्याग

आवश्यकता और मांग (Demand) में अन्तर:—

आवश्यकता के सही अर्थ को समझने के लिए आवश्यकता और मांग के अन्तर को समझना भी आवश्यक है। वास्तव में ये दोनों शब्द मिलते जुलते से लगते हैं किन्तु अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से दोनों में अन्तर है। दोनों ही शब्द प्रभाव पूर्ण इच्छा (Effective desire) को बताते हैं अर्थात् आवश्यकता और मांग दोनों के लिए किसी वस्तु या सेवा की इच्छा होना उसको पूरा करने के लिए धन या साधनों का होना और साथ में धन को व्यय करने की तत्परता का होना जरूरी है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि मांग का सम्बन्ध हमेशा कीमत तथा समय से होता है जबकि आवश्यकता का इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि मुझे

5 किलोग्राम दूध की आवश्यकता है किन्तु यह कहना कि मेरी दूध की मांग 5 किलोग्राम है कोई अर्थ नहीं रखता जब तक कि इसके साथ यह नहीं बताया जाय कि 5 किलोग्राम दूध की माँग किस कीमत पर और कितनी अवधि की है। अतः हम कहेंगे कि 1 रुपया प्रति किलोग्राम पर मेरी दूध की मांग 5 किलोग्राम प्रतिदिन है। अतः आवश्यकता प्रभावोत्पादक इच्छा को कहते हैं जबकि माँग वस्तु की उस मात्रा को कहते हैं जो कि एक दिये हुए समय में दी हुई कीमत पर खरीदी जायेगी।

आवश्यकता और मांग में अन्तर

आवश्यकता	मांग
1. प्रभावपूर्ण इच्छा	1. प्रभावपूर्ण इच्छा
	2. निश्चित समय के लिए
	3. निश्चित मूल्य पर

आवश्यकता की परिभाषा

प्रो. पेन्सन (Prof. Penson):—"आवश्यकता उस मानवीय इच्छा को कहते हैं जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य के पास पर्याप्त साधन और शक्ति विद्यमान हो और वह उन्हें उन इच्छा की पूर्ति में लगाने को तत्पर हो।"

आवश्यकता के तत्व—इस प्रकार प्रो. पेन्सन ने अवश्यकता के तीन तत्व बतलाये हैं।

आवश्यकता के तत्व
1. वस्तु या सेवा की इच्छा
2. इच्छा पूर्ति के साधन
3. साधन त्याग की तत्परता

1. वस्तु प्राप्त करने की इच्छा (Desire to possess a thing.)

2. इच्छा पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन या सामर्थ्य (Means to purchase it.)

3. इच्छा पूर्ति हेतु साधनों को व्यय करने की तत्परता (Willingness to use those means for this particular purpose)

आवश्यकताओं का उदय और उनको निर्धारित करने वाले तत्व
(Origin of wants and Factors determining wants)

मनुष्य के जन्म के साथ ही आवश्यकताओं का जन्म हो जाता है। मनुष्य को जीवित रहने, स्वयं क्षमता बनाये रखने और समाज में जीवनयापन करने के लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की आवश्यकता होती है। सभ्यता के आदि काल से ही मनुष्य की आवश्यकतायें रही हैं। सभ्यता और आर्थिक जीवन के विकास और वातावरण तथा परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ साथ आवश्यकताओं की संख्या, स्वभाव और उनके प्रकार में परिवर्तन होता गया है। विभिन्न स्तर और वर्गों के व्यक्तियों की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न होती हैं। आखेट अवस्था और पशु पालन अवस्था में लोगों की आवश्यकतायें कृषि अवस्था और आधुनिक अवस्था की तुलना में बहुत कम और भिन्न प्रकार की थीं। इसी प्रकार भौतिक (Material) और आध्यात्मिक (Spiritual) दृष्टि से विभिन्न स्तर के व्यक्तियों एवं वर्गों की आवश्यकताओं में अन्तर होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मानव के जन्म के साथ ही आवश्यकताओं का जन्म हुआ है और सभ्यता तथा आर्थिक और सामाजिक जीवन के विकास के साथ साथ इनकी संख्या एवं स्वरूप में परिवर्तन होता गया है।

इसके साथ ही हम देखते हैं कि विभिन्न देशों में रहने वाले व्यक्तियों की आवश्यकताओं में भिन्नता पाई जाती है। इतना ही नहीं एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की आवश्यकताएं और एक ही व्यक्ति की विभिन्न समय पर आवश्यकताएं भिन्न भिन्न होती हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आवश्यकताएं कई तत्वों से प्रभावित होती हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं को निर्धारित करने वाले या प्रभावित करने वाले मुख्य तत्व निम्न हैं:—

(1) भौगोलिक तत्व (Geographical Factors)—देश की स्थिति, जलवायु, मिट्टी आदि भौगोलिक परिस्थितियाँ मनुष्य की

5 किलोग्राम दूध की आवश्यकता है किन्तु यह कहना कि मेरी दूध की मांग 5 किलोग्राम है कोई अर्थ नहीं रखता जब तक कि इसके साथ यह नहीं बताया जाय कि 5 किलोग्राम दूध की माँग किस कीमत पर और कितनी अवधि की है। अतः हम कहेंगे कि 1 रुपया प्रति किलोग्राम पर मेरी दूध की मांग 5 किलोग्राम प्रतिदिन है। अतः आवश्यकता प्रभावोत्पादक इच्छा को कहते हैं जबकि माँग वस्तु की उस मात्रा को कहते है जो कि एक दिये हुए समय में दी हुई कीमत पर खरीदी जायेगी।

आवश्यकता और मांग में अन्तर

आवश्यकता	माँग
1. प्रभावपूर्ण इच्छा	1. प्रभावपूर्ण इच्छा
	2. निश्चित समय के लिए
	3. निश्चित मूल्य पर

आवश्यकता की परिभाषा

प्रो. पेन्सन (*Prof. Penson*):—"*आवश्यकता उस मानवीय इच्छा को कहते हैं जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य के पास पर्याप्त साधन और शक्ति विद्यमान हो और वह उन्हें उन इच्छा की पूर्ति में लगाने को तत्पर हो।*"

आवश्यकता के तत्व—इस प्रकार प्रो. पेन्सन ने अवश्यकता के तीन तत्व बतलाये हैं।

आवश्यकता के तत्व
1. वस्तु या सेवा की इच्छा
2. इच्छा पूर्ति के साधन
3. साधन त्याग की तत्परता

1. वस्तु प्राप्त करने की इच्छा (Desire to possess a thing.)

2. इच्छा पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन या सामर्थ्य (Means to purchase it.)

3. इच्छा पूर्ति हेतु साधनों को व्यय करने की तत्परता (*Willingness to use those means for this particular purpose.*)

आवश्यकताओं का उदय और उनको निर्धारित करने वाले तत्व
(Origin of wants and Factors determining wants)

मनुष्य के जन्म के साथ ही आवश्यकताओं का जन्म हो जाता है। मनुष्य को जीवित रहने, कार्य क्षमता बनाये रखने और समाज में जीवनयापन करने के लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की आवश्यकता होती है। सभ्यता के आदि काल से ही मनुष्य की आवश्यकतायें रही हैं। सभ्यता और आर्थिक जीवन के विकास और वातावरण तथा परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ साथ आवश्यकताओं की संख्या, स्वभाव और उनके प्रकार में परिवर्तन होता गया है। विभिन्न स्तर और वर्गों के व्यक्तियों की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न होती हैं। आखेट अवस्था और पशु पालन अवस्था में लोगों की आवश्यकतायें कृषि अवस्था और आधुनिक अवस्था की तुलना में बहुत कम और भिन्न प्रकार की थीं। इसी प्रकार भौतिक (Material) और अध्यात्मिक (Spiritual) दृष्टि से विभिन्न स्तर के व्यक्तियों एवं वर्गों की आवश्यकताओं में अन्तर होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मानव के जन्म के साथ ही आवश्यकताओं का जन्म हुआ है और सभ्यता तथा आर्थिक और सामाजिक जीवन के विकास के साथ साथ इनकी संख्या एवं स्वरूप में परिवर्तन होता गया है।

इसके साथ ही हम देखते हैं कि विभिन्न देशों में रहने वाले व्यक्तियों की आवश्यकताओं में भिन्नता पाई जाती है। इतना ही नहीं एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की आवश्यकताएं और एक ही व्यक्ति की विभिन्न समय पर आवश्यकताएं भिन्न भिन्न होती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आवश्यकताएं कई तत्वों से प्रभावित होती हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं को निर्धारित करने वाले या प्रभावित करने वाले मुख्य तत्व निम्न हैं:—

(1) भौगोलिक तत्व (Geographical Factors)—देश की स्थिति, जलवायु, मिट्टी आदि भौगोलिक परिस्थितियाँ मनुष्य की

आवश्यकताओं को निर्धारित करती हैं। ब्रिटेन, कनाडा आदि ठंडे देशों में वहाँ के लोगों के लिए ऊनी वस्त्र पहनना आवश्यक है जब कि भारत लंका जैसे उष्ण प्रदेशों में ऊनी वस्त्र इतने आवश्यक नहीं हैं। जापान में जहाँ ज्वालामुखी बहुत हैं मकान लकड़ी के बनाये जाते हैं जब कि भारत में पत्थर और ईंटों से मकान बनाये जाते हैं।

(2) शारीरिक तत्व (Physiological Factors)—मनुष्य की आवश्यकतायें उसके स्वास्थ्य और शरीर की बनावट पर भी निर्भर करती हैं। एक दुर्बल व्यक्ति के लिए घी, दूध, फल, अण्डे इत्यादि पौष्टिक वस्तुओं की अधिक आवश्यकता होती है। जब कि हृष्ट-पुष्ट और स्थूल व्यक्ति के लिए इन वस्तुओं की इतनी आवश्यकता नहीं है। बच्चों के लिए दूध, रोगियों के लिए औषधि, सुपाच्य भोजन और चिकित्सक की सेवा, युवकों के लिए पौष्टिक पदार्थ, वृद्धों के लिए दाल, दलिया, आदि हल्के भोजन की आवश्यकता होती है।

(3) आर्थिक तत्व (Economic Factors)—मनुष्य की आय, जीवन स्तर (Standard of living) और आर्थिक परिस्थितियां भी उसकी आवश्यकताओं को निर्धारित करती हैं। धनी, निर्धन और मध्यमवर्ग के मनुष्यों की आवश्यकताओं में आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही भिन्नता पाई जाती है। एक निर्धन व्यक्ति की आवश्यकताएं अनिवार्यताओं (Necessaries) तक ही सीमित रहती है। जब कि एक धनी व्यक्ति अनिवार्यताओं की पूर्ति ही नहीं आरामदायक (Comforts) और विलासिता की वस्तुओं (Luxuries) का भी उपयोग करता है। निर्धन या कम आय वाले व्यक्ति अपना तन ढकने के लिए मोटे और साधारण वस्त्र भी कठिनाई से उपलब्ध कर पाते हैं। मध्यमवर्ग (Middle class) वालों को अपनी प्रतिष्ठा के लिए थोड़े अच्छे और साफ वस्त्र पहनने पड़ते हैं। जबकि धनी व्यक्ति विभिन्न प्रकार के सुन्दर और बढ़िया वस्त्रों का उपयोग करते हैं।

(4) सामाजिक तत्व (Social Factors)—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसे सामाजिक दायित्वों को भी निभाना पड़ता है।

अतः व्यक्ति की आवश्यकताओं पर समाज में प्रचलित प्रथाओं और रीतिरिवाजों का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए हिन्दू समाज में लड़के लड़कियों के विवाह के समय प्रीतिभोज और मृत्यु के समय मृत्युभोज आदि का प्रचलन है।

(5) नैतिक, तथा आध्यात्मिक तत्व (Moral and Spiritual Factors)—एक व्यक्ति की आवश्यकताओं को निर्धारित करने में नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी बहुत प्रभावशाली होते हैं। जिस व्यक्ति का नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण सादा जीवन व्यतीत करने का होता है उसकी आवश्यकताएँ सीमित, सरल और साधारण होती हैं। इसके विपरीत भौतिकवादी (Materialistic) व्यक्तियों की आवश्यकताएँ अधिक एवं विभिन्न प्रकार की होती है।

(6) धार्मिक तत्व (Religious Factors)—धार्मिक विचार भी मानवीय आवश्यकताओं की विभिन्नता के कारण हैं। एक कट्टर ब्राह्मण और जैन माँसाहारी भोजन नहीं करेगा जब कि एक इसाई या अन्य धर्मावलम्बी के लिए ऐसा भोजन करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। धार्मिक कारणों से ही हिन्दूओं में मृतक के शवों को चन्दन, घृत, सुगन्धित सामग्री तथा लकड़ी के द्वारा जलाने की प्रथा है जब कि मुसलमान और इसाई अपने शवों को गाड़ते हैं।

(7) स्वभाव, फैशन इत्यादि Habit, Fashion etc.)–जिस व्यक्ति की चाय, सिगरेट, शराब आदि पीने की आदत हो गई है उनके लिए ये वस्तुयें आवश्यक हैं। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों को इनके उपयोग की आदत नहीं है उनके लिए इनकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार फैशन के द्वारा भी मानवीय आवश्यकताएँ निर्धारित होती हैं। विभिन्न रंग व डिजाइन के वस्त्र, पैन्ट, बुशर्ट, क्रीम, पाउडर आदि की आवश्यकताएँ बदलते हुए फैशन का ही परिणाम है। फैशन के कारण ही राज-

आवश्यकताओं को निर्धारित करने वाले तत्व
1. भौगोलिक तत्व
2. शारीरिक तत्व
3. आर्थिक तत्व
4. सामाजिक तत्व
5. नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्व
6 धार्मिक तत्व
7. स्वभाव, फैशन आदि
8. आर्थिक विकास का स्तर
9. आय, विज्ञापन, ज्ञान का प्रसार आदि अन्य कारण

स्थान में भी लड़कियाँ सलवार, कुर्ता, आदि पहनने लगी हैं।

(8) आर्थिक विकास का स्तर (Level of Economic Development)—मनुष्य की आवश्यकताएँ सभ्यता के विकास और समाज के आर्थिक विकास के स्तर पर भी निर्भर करती है। विश्व के विकसित देशों में बिजली, पंखे, रेल, मोटर, रेडियो, शिक्षा आदि बहुत आवश्यक है जब कि अफ्रीका की जंगली और अल्प विकसित जातियों में इनकी आवश्यकता महसूस नहीं होती है।

(9) अन्य कारण (Other Factors)-विज्ञापन (Advertisement) ज्ञान के प्रसार आदि से नई वस्तुओं की जानकारी हो जाती है और उनके उपभोग की इच्छा जागृत हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य की आय में वृद्धि होने से उसकी आवश्यकताएँ गुण (quality) और परिणाम (quantity) में बढ़ जाती है। इसके विपरीत आय में कमी होने पर मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को कम करने को बाध्य होना पड़ता है।

आवश्यकतायें आर्थिक जीवन का आधार
(Wants as basis of economic life) :

आवश्यकता और आर्थिक प्रयत्न का घनिष्ट संबन्ध है। समस्त आर्थिक जीवन आवश्यकताओं के कारण ही क्रियाशील है। हम जानते हैं कि मनुष्य को असंख्य आवश्यकताएँ अनुभव होती है। इन आवश्यकताओं को संतुष्ट करना जरूरी होता है क्योंकि इसके अभाव में कष्ट होता है। आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए वस्तुओं और सेवाओं की जरूरत होती है। इसके लिए धन का उत्पादन जरूरी है। आजकल उत्पादन के कई साधन भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन, उद्यम आदि मिलकर उत्पादन करते हैं। इस सामूहिक उत्पत्ति (Joint Product) का उत्पादन के साधनों में वितरण जरूरी है। आजकल व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं की संतुष्टि अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं से नहीं कर सकता। अतः उसे अपनी उत्पादित वस्तु को देकर दूसरों की वस्तु बदले में लेनी

होता है। अर्थात् धन का विनिमय (Exchange) चलता रहता है। तब जाकर व्यक्ति की आवश्यकता सन्तुष्ट होती है। कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिसे व्यक्ति अकेले पूर्ण नहीं कर सकता। ऐसी आवश्यकता की पूर्ति सारा समाज सामूहिक रूप से सरकार के माध्यम द्वारा करता है। अतः सरकार को भी धन प्राप्त करने और व्यय करने की आर्थिक क्रियायें करनी पड़ती हैं जिन्हें राजस्व (Public Finance) कहते हैं। इस प्रकार धन के उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण एवं राजस्व आदि समस्त आर्थिक क्रियाओं का जन्म और सम्पादन आवश्यकताओं के कारण ही होता है। आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के हेतु धन प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य आर्थिक क्रियाओं में जुटा रहता है। कुली बोझा ढोता है, कृषक खेतों में कार्य करता है, अध्यापक पाठशाला में पढ़ाता है, श्रमिक मोर्चे पर लड़ता है। इन विभिन्न आर्थिक प्रयत्नों (Economic efforts) से ही मनुष्य धन कमाता है। अतः आवश्यकताओं से ही प्रयत्नों को प्रेरणा मिलती है और प्रयत्नों का अन्तिम परिणाम भी आवश्यकताओं की संतुष्टि ही है।—इसीलिए (Prof. Bestiat) प्रो. बेस्टियट ने लिखा है कि 'आवश्यकता–प्रयत्न–सन्तुष्टि, अर्थ—व्यवस्था का चक्र है।" "Wants Efforts-Satisfaction ... ...is the circle of Political Economy".

आधुनिक युग में मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं और साथ साथ अनेक प्रकार के उद्योग धन्धे भी विकसित होते जा रहे हैं। प्राचीन काल में मनुष्य पत्थर, लोहे या काठ के पात्रों में भोजन कर लेते थे किन्तु आज चीनी, मिट्टी, पीतल, ताम्बे, एल्युमिनियम, जर्मन-सिल्वर, स्टेनलेस स्टील, चाँदी, सोने आदि के भी पात्र काम में लाये जाने लगे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आवश्यकताओं के बढ़ने से आर्थिक प्रयत्नों में वृद्धि होती है और आर्थिक प्रयत्नों के बढ़ने से उद्योग धन्धे विकसित होते हैं। आधुनिक युग में जबकि उत्पादन बड़े पैमाने (Large scale Production) पर किया जाता है यह आव-

श्यक हो जाता है कि सदैव नवीन प्रणाली एवं आविष्कार किये गये यंत्रों का प्रयोग किया जाय जिससे उत्पादन लागत (Cost of Production) कम हो और वस्तु की मांग बढ़ सके। एक ही प्रकार के औजारों से सदैव एक ही वस्तु उत्पन्न करने का कार्य मनुष्य को कुछ समय बाद सुस्त बना देता है। अतः वह स्वयं ही उनमें कुछ परिवर्तन करता है और अपने प्रयत्नों से नवीनता लाता है। पुराने औजारों में सुधार करने का उपाय सोचता है और वस्तु निर्माण करने के ढंग में भी परिवर्तन करके सुधार कर लेता है। इससे उसकी स्वयं की आय बढ़ती है और उत्पादन लागत भी कम होती है। इससे वस्तु की मांग और मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती है। अतः स्पष्ट है कि आर्थिक क्रियायें उनसे सम्बन्धित अनेक आविष्कारों को जन्म देती हैं जिससे नवीन वस्तुओं का उत्पादन होता है। नवीन वस्तुओं का उत्पादन होने पर इनकी भी मांग होने लगती है और फलस्वरूप नवीन आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं। अतः प्रारम्भ में आवश्यकताएं मनुष्य को आर्थिक प्रयत्नों की ओर प्रवृत्त करती हैं किन्तु बाद में आर्थिक प्रयत्न नवीन आवश्यकताओं को जन्म देते हैं। यह क्रम जारी रहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आवश्यकताएं आर्थिक प्रयत्नों की जननी और आर्थिक जीवन का आधार है।

आवश्यकताओं की संख्या वर्द्धन

(Multiplication of wants)

प्रो० जे० के० मेहता के विचार :

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि समस्त आर्थिक जीवन और आर्थिक क्रियाओं का आधार मानवीय आवश्यकताएं हैं। अतः बहुधा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आवश्यकताओं का संख्या वर्धन वांछनीय है। यह प्रश्न बड़ा विचार पूर्ण है। कुछ व्यक्ति मुख्य रूप से भारतीय अर्थशास्त्री जे. के. मेहता आवश्यकताओं की वृद्धि को अवाँछनीय मानते हैं। प्रो० जे० के० मेहता *(Prof, J. K. Mehta)* के विचार भारतीय

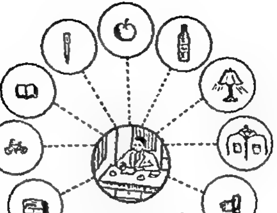

आवश्यकताओं में वृद्धि

संस्कृति और परम्पराओं के अनुकूल हैं। प्रो. जे. के. मेहता ने आवश्यकताओं को कम से कम करने पर जोर दिया है। उन्होंने बताया कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इच्छाओं की संतुष्टि से नहीं वरन् इच्छाओं की समाप्ति से है जिससे कि आवश्यकता रहित (Want lessness) अवस्था और निर्वाण की स्थिति को प्राप्त किया जा सके। प्रो. मेहता ने अर्थ शास्त्र की परिभाषा देते हुए अपने विचार को इस प्रकार से प्रकट किया है कि "अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मानव व्यवहार का अध्ययन आवश्यकता रहित अवस्था में पहुँचने के साधन के रूप में करता है।"[1]

प्रो. मेहता की आवश्यकता रहित स्थिति से तात्पर्य उस स्थिति से है जब मनुष्य अपने कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से ही आवश्यकताओं

1. "....economics is a science that studies human behaviour as a means to reach the state of want lessness." —J. K. Mehta

श्यक हो जाता है कि सदैव नवीन प्रणाली एवं आविष्कार किये गये यंत्रों का प्रयोग किया जाय जिससे उत्पादन लागत (Cost of Production) कम हो और वस्तु की माँग बढ़ सके। एक ही प्रकार के औजारों से सदैव एक ही वस्तु उत्पन्न करने का कार्य मनुष्य को कुछ समय बाद सुस्त बना देता है। अतः वह स्वयं ही उनमें कुछ परिवर्तन करता है और अपने प्रयत्नों से नवीनता लाता है। पुराने औजारों में सुधार करने का उपाय सोचता है और वस्तु निर्माण करने के ढंग में भी परिवर्तन करके सुधार कर लेता है। इससे उसकी स्वयं की आय बढ़ती है और उत्पादन लागत भी कम होती है। इससे वस्तु की मांग और मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती है। अतः स्पष्ट है कि आर्थिक क्रियायें उनसे सम्बन्धित अनेक आविष्कारों को जन्म देती हैं जिससे नवीन वस्तुओं का उत्पादन होता है। नवीन वस्तुओं का उत्पादन होने पर इनकी भी मांग होने लगती है और फलस्वरूप नवीन आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं। अतः प्रारम्भ में आवश्यकताएं मनुष्य को आर्थिक प्रयत्नों की ओर प्रवृत्त करती हैं किन्तु बाद में आर्थिक प्रयत्न नवीन आवश्यकताओं को जन्म देते हैं। यह क्रम जारी रहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आवश्यकताएं आर्थिक प्रयत्नों की जननी और आर्थिक जीवन का आधार है।

आवश्यकताओं की संख्या वर्द्धन

(Multiplication of wants)

प्रो० जे० के० मेहता के विचार :

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि समस्त आर्थिक जीवन और आर्थिक क्रियाओं का आधार मानवीय आवश्यकताएं हैं। अतः बहुधा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आवश्यकताओं का संख्या वर्धन वांछनीय है। यह प्रश्न बड़ा विचार पूर्ण है। कुछ व्यक्ति मुख्य रूप से भारतीय अर्थ शास्त्री जे. के. मेहता आवश्यकताओं की वृद्धि को अवाँछनीय मानते हैं। प्रो० जे० के० मेहता (Prof, J. K. Mehta) के विचार भारतीय

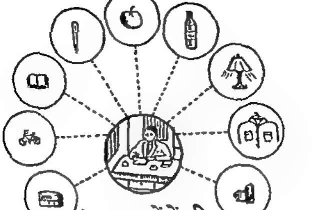

आवश्यकताओं में वृद्धि

संस्कृति और परम्पराओं के अनुकूल हैं। प्रो. जे. के. मेहता ने आवश्यकताओं को कम से कम करने पर जोर दिया है। उन्होंने बताया है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इच्छाओं की संतुष्टि से नहीं वरन् इच्छाओं की समाप्ति से है जिससे कि आवश्यकता रहित (Wantlessness) अवस्था और निर्वाण की स्थिति को प्राप्त किया जा सके। प्रो. मेहता ने अर्थ शास्त्र की परिभाषा देते हुए अपने विचार को इस प्रकार से प्रकट किया है कि "अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मानव व्यवहार का अध्ययन आवश्यकता रहित अवस्था में पहुँचने के साधन के रूप में करता है।" 1

प्रो. मेहता की आवश्यकता रहित स्थिति से तात्पर्य उस स्थिति से है जब मनुष्य अपने कर्तव्य पालन की दृष्टि से ही आवश्यकताओं

1. "....economics is a science that studies human behaviour as a means to reach the state of wantlessness."
—J. K. Mehta

(2) **सभ्यता का विकास और आर्थिक उन्नति**—सभ्यता का इतिहास मानव आवश्यकताओं की वृद्धि का इतिहास है। सभ्यता के साथ आवश्यकताएं बढ़ीं और आवश्यकताओं की वृद्धि ने सभ्यता को आगे बढ़ाया। इसी प्रकार आज की विश्व की आर्थिक प्रगति का कारण आवश्यकताओं में वृद्धि ही है। आवश्यकताओं में वृद्धि के कारण ही उनकी पूर्ति के लिये विभिन्न प्रकार के प्रयत्न और धन उत्पादन किया जाता है। नये-नये आविष्कारों की खोज की जाती है क्योंकि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। नई नई उत्पादन विधियों को अपनाया जाता है। इस प्रकार बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नई नई और विभिन्न प्रकार की वस्तुएं भारी मात्रा में तैयार करनी पड़ती हैं। इससे आर्थिक प्रगति होती है।

(3) **जीवन स्तर की उच्चता**—मनुष्य का जीवन स्तर उसके समस्त उपभोग जिसमें अनिवार्यताएं (Necessaries) लाभदायक वस्तुएं (comforts) और विलासिताएं (Luxuries) सम्मिलित होती है, पर निर्भर होता है। दूसरी ओर मनुष्य की कार्य कुशलता (Efficiency) उसके जीवन स्तर पर निर्भर करती है। उच्च जीवन स्तर के साथ कार्य कुशलता बढ़ती जाती है और निम्न जीवन स्तर के साथ कार्य कुशलता घटती जाती है। अतः आवश्यकता की वृद्धि और विविधता जीवन स्तर को उच्च बनाकर मनुष्य को अधिक कार्य कुशल बनाती है, जिससे समाज की उत्पादकता (Productivity) और राष्ट्रीय आय (National income) पर भी सुप्रभाव पड़ता है। आवश्यकता की वृद्धि एक दूसरे प्रकार से भी जीवन स्तर को ऊंचा बनाती है। आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण ही मनुष्य अधिक प्रयत्न करता है जिससे देश का उत्पादन बढ़ता है। इसके परिणाम स्वरूप लोगों का जीवन स्तर ऊंचा होता है।

आवश्यकताओं की वृद्धि वांछनीय है
1. मानव संतोष में वृद्धि
2. सभ्यता का विकास और आर्थिक उन्नति
3. जीवन स्तर की उच्चता
4. पुरुषार्थ में वृद्धि
5. राजनीतिक दृढ़ता

(4) पुरुषार्थ को प्रोत्साहन—आवश्यकता ही मानव को क्रियाओं की ओर अग्रसर करती है। उनके कम होने से मनुष्य आलसी और अशक्त बन जाता है। जिन देशों के निवासियों की आवश्यकताएं थोड़ी और सरलता से पूरी हो जाती हैं वहाँ के लोग कम पुरुषार्थी होते हैं।

(5) राजनीतिक दृढ़ता—राजनैतिक शक्ति के लिए देश आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होना चाहिये। आवश्यकता की वृद्धि के परिणाम स्वरूप ही देश में निर्माण कार्य प्रारम्भ किये जाते हैं जिससे देश की आर्थिक प्रगति होती है। आर्थिक दृष्टि से विकसित देश ही राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से सशक्त होते हैं।

आवश्यकताओं की संख्या वृद्धि के विपक्ष में तर्क:—

(1) अपूर्ण आवश्यकताओं से दुःख होता है—मनुष्य के साधन सीमित होते हैं। जब हमारी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती है तो इन सीमित साधनों से इन सब आवश्यकताओं को सतुष्ट नहीं किया जा सकता है। आवश्यकता के अतृप्त रहने से मानसिक संताप और दुःख होता है। जितनी ही हमारी कम आवश्यकतायें होंगी उतनी ही अधिकांश आवश्यकताओं को हम पूरा कर सकेंगे और दुःख कम होगा। जितनी ही व्यक्ति की अधिक आवश्यकतायें होंगी उतनी ही अधिक मात्रा में आवश्यकताएँ अपूर्ण रहेंगी और अधिक दुःख होगा। इसीलिए प्रो. जे. के. मेहता ने आवश्यकताओं को यथा सम्भव सीमित करने का सुझाव दिया है।

(2) आध्यात्मिक विकास में बाधा—अधिकाधिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये मनुष्य का अधिकांश समय धन कमाने में ही व्यतीत हो जाता है। वह अधिकाश भौतिकवादी (Materialists)

[illegible] जाता है। [illegible] के लिए [illegible] और [illegible] जाता है।

(3) दृष्टिकोण एकांगी हो जाना—बढ़ी हुई आवश्यकताओं [illegible] धन [illegible] है। [illegible] आर्थिक [illegible] सामाजिक [illegible] जाता है।

(4) वर्ग संघर्ष में वृद्धि—[illegible] आवश्यकता होती है। [illegible] अधिक धन कमाना चाहता है। [illegible] है और [illegible] आरम्भ हो जाता है।

आवश्यकताओं की वृद्धि अवांछनीय है क्योंकि

1. अपूर्ण आवश्यकताओं से दुःख होता है।
2. आध्यात्मिक विकास में बाधा
3. दृष्टिकोण एकांगी होना
4. वर्ग संघर्ष में वृद्धि
5. नैतिक मूल्यों का ह्रास
6. पूंजी निर्माण में कमी

(5) नैतिक मूल्यों का ह्रास—बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिकाधिक धन प्राप्त करने के प्रयत्न में लोग नैतिक मूल्यों को भूल जाते हैं। बेईमानी, भ्रष्टाचार, मिलावट, काला बाजार, गबन, चोरी, आदि अनैतिक कार्यों का सहारा लेने को विवश होना पड़ता है। इसके विपरीत जब आवश्यकताएँ थोड़ी होती हैं तो वे सरलता से पूर्ण की जा सकती है और इस प्रकारकी अनैतिक कार्यवाहियों का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होती है।

(6) पूंजी निर्माण में कमी—यदि मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ेंगी तो उसकी आय का अधिकांश भाग व्यय हो जायगा। जिससे बचत

कम होगी और पूंजी का संचय नहीं हो सकेगा। दूसरी ओर वस्तुओं की माँग बढ़ेगी और इसके कारण मूल्यों में वृद्धि होगी। इस प्रकार कई समस्यायें उत्पन्न होंगी।

उचित दृष्टिकोण—उपरोक्त विवेचन के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त आवश्यकताओं को समाप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि मनुष्य को जीवित रहने, कार्य क्षमता बनाये रखने और सामाजिक परम्पराओं के निर्वाह करने के लिये कुछ आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तो अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने से तो आर्थिक और अन्य प्रकार का जीवन ही समाप्त हो जायगा। किंतु कुछ आवश्यकताओं को निश्चित रूप से कम किया जा सकता है। अतः आवश्यकताओं की संख्या वृद्धि के सम्बन्ध में मध्यम मार्ग (Middle course) का अवलम्बन करना चाहिये। आवश्यकताएं न तो इतनी कम ही होनी चाहिए कि उन्नति करने के लिए प्रेरणा (incentive) ही नहीं रहे और न इतनी अधिक होनी चाहिए जिससे उनकी पूर्ति नहीं होने पर दुःख का अनुभव हो या पूर्ति करने के लिए अनैतिक मार्ग का अवलम्बन करना पड़े। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आर्थिक दशा वातावरण एवं अन्य परिस्थितियों के अनुसार आवश्यकताओं की संख्या में वृद्धि या कमी करनी चाहिए।

सारांश

आवश्यकता का अर्थ—अर्थशास्त्र में प्रभावोत्पादक इच्छाओं को आवश्यकता कहते हैं। इच्छा और आवश्यकता में अन्तर है। मनुष्य की उस इच्छा को जिसकी पूर्ति के लिये उसके पास साधन हो और उन्हें वह व्यय करने को तैयार हो आवश्यकता कहते हैं। इसी प्रकार आवश्यकता और माग में भी अन्तर है। मांग का सम्बन्ध हमेशा कीमत और निश्चित अवधि से होता है जबकि आवश्यकता के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

परिभाषा—प्रो. पेन्सन के अनुसार "आवश्यकता उस मानवीय इच्छा को कहते हैं जिसकी पूर्ति के लिये मनुष्य के पास पर्याप्त साधन

बन जाता है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए कम अवसर मिलता है और उसका आध्यात्मिक विकास रुक जाता है।

(3) **मनुष्य का दृष्टिकोण एकांगी हो जाना**—बढ़ी हुई आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए मनुष्य धन कमाने में ही बहुत व्यस्त हो जाता है। वह दूसरों के सुख दुःख और कल्याण का ध्यान नहीं रखता है। इसके अलावा उसके पास अन्य गैर आर्थिक कार्य जैसे साहित्य सृजन करना या विकास, प्राकृतिक आनन्द प्राप्ति, सामाजिक सेवा आदि के लिये कम समय मिल पाता है।

(4) **वर्ग संघर्ष में वृद्धि**—जब व्यक्तियों की आवश्यकता बढ़ती है तो उनकी संतुष्टि के लिये अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक धन कमाना चाहता है। समाज में शोषण बढ़ता है और निर्धन और धनिक वर्गों में संघर्ष प्रारंभ हो जाता है।

आवश्यकताओं की वृद्धि अवांछनीय है क्योंकि

1. अपूर्ण आवश्यकताओं से दुःख होता है।
2. आध्यात्मिक विकास में बाधा
3. दृष्टिकोण एकांगी होना
4. वर्ग संघर्ष में वृद्धि
5. नैतिक मूल्यों का ह्रास
6. पूंजी निर्माण में कमी

(5) **नैतिक मूल्यों का ह्रास**—बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिकाधिक धन प्राप्त करने के प्रयत्न में लोग नैतिक मूल्यों को भूल जाते हैं। बेईमानी, भ्रष्टाचार, मिलावट, काला बाजार, गबन, चोरी, आदि अनैतिक कार्यों का सहारा लेने को विवश होना पड़ता है। इसके विपरीत जब आवश्यकताएँ थोड़ी होती हैं तो वे सरलता से पूर्ण की जा सकती है और इस प्रकारकी अनैतिक कार्यवाहियों का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होती है।

(6) **पूंजी निर्माण में कमी**—यदि मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ेगी तो उसकी आय का अधिकांश भाग व्यय हो जायगा। जिससे बचत

कम होगी और पूंजी का संचय नहीं हो सकेगा। दूसरी ओर वस्तुओं की मांग बढ़ेगी और इसके कारण मूल्यों में वृद्धि होगी। इस प्रकार कई समस्यायें उत्पन्न होंगी।

उचित दृष्टिकोण—उपरोक्त विवेचन के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त आवश्यकताओं को समाप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि मनुष्य को जीवित रहने, कार्य क्षमता बनाये रखने और सामाजिक परम्पराओं के निर्वाह करने के लिये कुछ आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तो अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने से तो आर्थिक और अन्य प्रकार का जीवन ही समाप्त हो जायगा। किन्तु कुछ आवश्यकताओं को निश्चित रूप से कम किया जा सकता है। अतः आवश्यकताओं की संख्या वृद्धि के सम्बन्ध में मध्यम मार्ग (Middle course) का अवलम्बन करना चाहिये। आवश्यकताएँ न तो इतनी कम ही होनी चाहिए कि उन्नति करने के लिए प्रेरणा (incentive) ही नहीं रहे और न इतनी अधिक होनी चाहिए जिससे उनकी पूर्ति नहीं होने पर दुःख का अनुभव हो या पूर्ति करने के लिए अनैतिक मार्ग का अवलम्बन करना पड़े। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आर्थिक दशा वातावरण एवं अन्य परिस्थितियों के अनुसार आवश्यकताओं की संख्या में वृद्धि या कमी करनी चाहिए।

सारांश

आवश्यकता का अर्थ—अर्थशास्त्र में प्रभावोत्पादक इच्छाओं को आवश्यकता कहते हैं। इच्छा और आवश्यकता में अन्तर है। मनुष्य की उस इच्छा को जिसकी पूर्ति के लिये उसके पास साधन हों और उन्हें वह व्यय करने को तैयार हो आवश्यकता कहते हैं। इसी प्रकार आवश्यकता और मांग में भी अन्तर है। मांग का सम्बन्ध हमेशा कीमत और निश्चित अवधि से होता है जबकि आवश्यकता के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

परिभाषा—प्रो. पेन्सन के अनुसार "आवश्यकता उस मानवीय इच्छा को कहते हैं जिसकी पूर्ति के लिये मनुष्य के पास पर्याप्त साधन

और शक्ति विद्यमान हो और वह उन्हें उस इच्छा की पूर्ति में लगाने को तत्पर हो।"

आवश्यकता के तत्त्व—(i) वस्तु या सेवा की इच्छा (ii) इच्छा पूर्ति के साधन (iii) साधन त्याग की तत्परता।

आवश्यकताओं का उदय और उनको निर्धारित करने वाले तत्व—जीवित रहने, कार्य क्षमता बनाये रखने, और सामाजिक जीवन विताने के लिये कई प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की आवश्यकता होती है। विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताएं भिन्न भिन्न होती हैं जिसके कारण हैं—(1) भौगोलिक तत्व (2) शारीरिक तत्व (3) आर्थिक तत्व (4) सामाजिक तत्व (5) नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्व (6) धार्मिक तत्व (7) स्वभाव फैशन आदि (8) आर्थिक विकास का स्तर (9) अन्य कारण।

आवश्यकताएं आर्थिक जीवन का आधार:—आवश्यकताओं और आर्थिक प्रयत्नों का घनिष्ट सम्बन्ध है। आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही धन का उत्पादन विनिमय वितरण और राजस्व की क्रियाएं की जाती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न किये जाते हैं। सारा आर्थिक जीवन इनके कारण क्रियाशील है। इस प्रकार सारे जीवन का आधार आवश्यकताएं हैं।

आवश्यकताओं की वृद्धि के बारे में जे. के. मेहता के विचार हैं कि मनुष्य का उद्देश्य अधिकतम (Happiness) प्राप्त करना है। इसके लिये मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं न्यूनतम रखनी चाहिये और अन्तिम उद्देश्य आवश्यकता विहीनता की स्थिति को प्राप्त करना होना चाहिए।

आवश्यकताओं की संख्या वृद्धि के पक्ष में तर्क—(i) मानव संतोष में वृद्धि (ii) सभ्यता का विकास और आर्थिक प्रगति (iii) जीवन स्तर की उच्चता (iv) पुरुषार्थ में वृद्धि (v) राजनीतिक दृढ़ता।

विपक्ष में तर्क:—(i) अपूर्ण आवश्यकताओं से दुःख होता है। (ii) आध्यात्मिक विकास में बाधा (iii) मनुष्य का दृष्टिकोण एकांगी

हो जाना (iv) वर्ग संघर्ष में वृद्धि (v) नैतिक मूल्यों का ह्रास (vi) पूंजी निर्माण में कमी।

उचित दृष्टिकोण:—आवश्यकताएं न तो इतनी कम होनी चाहिए कि उन्नति करने के लिये प्रेरणा ही न रहे और न इतनी अधिक होनी चाहिए जिससे उनकी पूर्ति न होने के कारण दुःख का अनुभव हो।

प्रश्न

1. आवश्यकता से आप क्या समझते हैं ? आवश्यकता और इच्छा में अन्तर उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
2. "आवश्यकताएं—प्रयत्न—संतुष्टि एवं व्यवस्था का चक्र है।" बेस्टियट के इस कथन को समझाइये।
3. "आवश्यकता की संख्या वृद्धि कहाँ तक वांछनीय है ?" इस सम्बन्ध में जे. के. मेहता के क्या विचार हैं ?
4. मानवीय आवश्यकताओं से आप क्या समझते हैं। इनके मुख्य लक्षण क्या है ? (राज० बोर्ड, मे० परीक्षा, (1965)
5. मानवीय आवश्यकताओं के प्रमुख लक्षणों का विवेचन कीजिये। क्या आवश्यकताओं का परिवर्द्धन वांछनीय है ? (राज० वि० वि० प्रि०यूनि० 1967।)

2 उपभोग-अर्थ एवं महत्व

CONSUMPTION-MEANING AND IMPORTANCE

"स्वतंत्र मनुष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये वस्तुओं अथवा सेवाओं का प्रत्यक्ष या अन्तिम प्रयोग ही उपभोग कहलाता है।"

—प्रो. मेयर्स

उपयोग का अर्थ—उपयोग शब्द दैनिक प्रयोग का शब्द है और उसके कई अर्थ होते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र में उपयोग का भिन्न अर्थ लगाया जाता है। मनुष्य को जीवित रहने, कार्य कुशलता बनाये रखने और सामाजिक परम्पराओं का निर्वाह करने के लिए कई प्रकार की आवश्यकतायें अनुभव होती हैं। इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि आवश्यक है अन्यथा उसे क्लेश और दुःख होता है। इन्हीं आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए हम प्रतिदिन कई प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं उपयोग करते रहते हैं। भूख मिटाने के लिये भोजन करते हैं। फल, दूध, बिस्कुट आदि खाते हैं। सर्दी, गर्मी से बचने और तन ढकने के लिये कई प्रकार के वस्त्र पहनते हैं। विश्राम करने के लिये

उत्पादन उपभोग

मकान आदि की शरण लेते हैं। शिक्षा प्राप्त करने के लिये पुस्तकें आदि काम में लाते हैं। मनोरंजन के लिये खेल, रेडियो, चित्रपट आदि का सहारा लेते हैं। इस प्रकार हमारी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये हम विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं को काम में लाते हैं। यही उपभोग कहलाता है। उपरोक्त उदाहरण में भोजन, फल, बिस्कुट, वस्त्र, मकान, पुस्तकें, फुटबाल, आदि को आवश्यकता पूर्ति के लिये काम में लाने की क्रिया को इन वस्तुओं का उपभोग कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य को समय समय पर असंख्य आवश्यकताओं का अनुभव होता है जिसकी सन्तुष्टि और तृप्ति के लिये उसे कई प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग करना पड़ता है। अतः पदार्थों एवं सेवाओं के ऐसे उपयोग को जिससे मनुष्य की आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष रूप से संतुष्टि हो उपभोग कहते हैं।

उपभोग के तत्व—उपभोग के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने के लिये हमें निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिये

(1) उपभोग में मानवीय आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिये—किसी वस्तु का उपयोग तभी उपभोग कहलायेगा जबकि उसमें किसी मानवीय आवश्यकता की सन्तुष्टि हो। वस्तु के ऐसे प्रयोग से यदि मानवीय आवश्यकता की सन्तुष्टि नहीं होती है तो वह उपभोग नहीं कहलायेगा। उदाहरण के लिये फलों का सड़ जाना, पुस्तक का फाड़ डालना, लकड़ियों का जंगल में आग लगकर जल जाना, कुर्सी का गिर कर टूट जाना, दूध का फर्श पर गिरकर बह जाना 'उपभोग' नहीं है। क्योंकि इनसे मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हुई है। यह तो बर्बादी

(Waste) है अतः आवश्यकता सन्तुष्टि के लिये धन के प्रयोग को ही उपभोग कहते हैं।

(2) उपभोग के लिये आवश्यकता की प्रत्यक्ष संतुष्टि या वस्तु का **अंतिम प्रयोग (Final use) होना जरूर है**—आवश्यकता की संतुष्टि के लिये वस्तुओं और सेवाओं का प्रयोग दो रूपों में किया जा सकता है। प्रथम, प्रत्यक्ष रूप से और द्वितीय, अप्रत्यक्ष रूप से। कोयले को यदि अंगीठी में जलाकर भोजन बनाकर हम अपनी भूख शान्त करते हैं तो यह कोयले का प्रत्यक्ष (Direct) प्रयोग है। लेकिन यदि कोयले का उपयोग मशीनों को चलाने के लिये किया जाता है तो यह आवश्यकता सन्तुष्टि के लिए कोयले का अप्रत्यक्ष (Indirect) प्रयोग हुआ। अर्थशास्त्र में पहले प्रकार की क्रिया को ही उपभोग कहते हैं। वस्तुओं का अप्रत्यक्ष प्रयोग उपभोग नहीं कहलाता है। इसी प्रकार गेहूँ का रोटी बनाकर खाना आवश्यकता की प्रत्यक्ष संतुष्टि करता है अतः उपभोग है जब कि गेहूँ का खेत में बोना उपभोग नहीं है।

3. **उपभोग में पदार्थ नष्ट नहीं होते अपितु तुष्टि गुण (Utility) का नाश होता है**:—वैज्ञानिकों के अनुसार पदार्थ (Matter) नष्ट नहीं होता और न इसे उत्पन्न ही किया जा सकता है अतः पदार्थों के उपभोग से पदार्थ नष्ट नहीं होता है बल्कि उसकी उपयोगिता कम या नष्ट हो जाती है। यदि आप एक बिस्कुट खा लेते हैं, तो साधारण मनुष्य तो बिस्कुट के इस उपभोग के बारे में कहेगा कि बिस्कुट नष्ट हो गया है किन्तु, वास्तव में बिस्कुट के रूप में जो पदार्थ था वह नष्ट नहीं हुआ है। वह तो पेट में पहुँच कर रक्त

उपभोग के लिए आवश्यक बातें

1. मानवीय आवश्यकता की संतुष्टि
2. आवश्यकता की प्रत्यक्ष संतुष्टि या अंतिम उपयोग
3. तुष्टिगुण का कम होना या नष्ट होना
4. तुष्टिगुण का नाश धीरे या शीघ्र दोनों प्रकार से
5. सेवाओं का उपयोग भी उपभोग

आदि के रूप में बदल गया है। केवल बिस्कुट में जो पहले आवश्यकता सन्तुष्ट करने की शक्ति या तुष्टिगुण था वह समाप्त हो गया है। इस प्रकार उपभोग में पदार्थ नष्ट नहीं होता है केवल उसका तुष्टिगुण कम हो जाता है या नष्ट हो जाता है। अतः हम कह सकते है कि मानवीय आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष संतुष्टि के लिए उपयोगिता का नष्ट होना ही उपभोग है।

4. उपभोग में तुष्टि गुण नाश या कमी शीघ्र भी हो सकती है और धीरे-धीरे भी —कुछ वस्तुओं के उपभोग में तुष्टिगुण एक बार में ही शीघ्र नष्ट हो जाता है—जैसे बिस्कुट, रोटी, आम, कोयला आदि का प्रयोग। किन्तु कुछ वस्तुओं में जैसे आभूषण, मकान, मोटर, चित्र, पर्दे, आदि का तुष्टिगुण धीरे-धीरे नष्ट होता है। किन्तु इनके उपयोग को भी उपभोग कहते हैं। यद्यपि यहा तुष्टि गुण का नाश शीघ्र न हो कर धीरे धीरे होता है।

5. सेवाओं का उपयोग भी उपभोग कहलाता है:—रोटी, कुर्सी, वस्त्र, पुस्तक, आदि भौतिक वस्तुओं का उपयोग ही न केवल उपभोग कहलाता है बल्कि आवश्यकता सतुष्टि के लिए सेवाओं (Services) के उपयोग को भी उपभोग कहते हैं। उदाहरण के लिये नौकरानी के द्वारा भोजन बनवाना, धोबी के द्वारा कपड़े धुलवाना, अध्यापक द्वारा बच्चों को पढ़वाना, नौकरानी, धोबी और अध्यापक की सेवाओं का उपभोग है।

उपभोग की परिभाषायें

उपभोग — उपभोग नहीं

प्रो० पेन्सन के अनुसार—"आवश्यकताओं की सतुष्टि के लिए धन के उपयोग को ही अर्थ शास्त्र के दृष्टिकोण से उपभोग कहा जाता है।"

श्री ए. जे. ब्राउन (A. J. Brown) के कथनानुसार "उपभोग अपनी आवश्यकताओं की

महत्त्व के बारे में लिखा है कि "उपभोग सभी उत्पादन का एक मात्र कारण एवं उद्देश्य है।"[1] समस्त आर्थिक क्रियाओं का मूल आधार उपभोग ही है। उपभोग का महत्त्व निम्न विवरण से स्पष्ट हो जाता है:—

(1) उपभोग मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का आदि (Beginning) और अन्त (end) है—मनुष्य प्रातःकाल से सायंकाल तक बहुत से कार्य करता रहता है। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध उपभोग से होता है। यदि हम किसी प्रमुख बाजार में चले जाएँ तो वहाँ हमें विभिन्न मनुष्य विभिन्न क्रियाओं में व्यस्त दृष्टिगोचर होंगे। कोई व्यक्ति 'गर्म चीज' की मधुर ध्वनि से ग्राहकों को आकर्षित करता होगा तो कोई व्यक्ति सामान खरीद रहा होगा। कोई व्यक्ति माल ढोता दिखाई देगा तो कोई व्यक्ति कपड़ा रंगता हुआ दिखाई देगा। इन सब व्यक्तियों की क्रियाओं का उद्देश्य उपभोग ही है। मनुष्य की सभी आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य आवश्यकताओं की संतुष्टि अर्थात् उपभोग करना है। इस प्रकार उपभोग आर्थिक क्रियाओं का आदि और अन्त है। यह बात

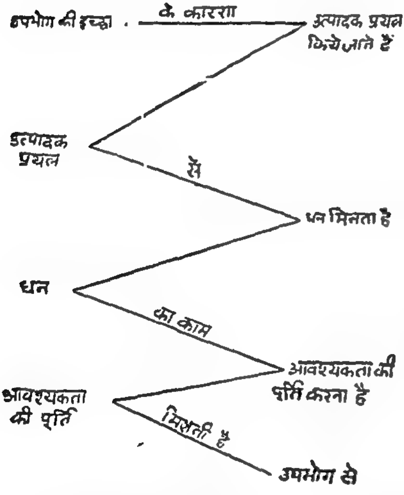

प्रो. पेन्सन के उक्त चित्र से स्पष्ट हो जाती है।

प्रो. पेन्सस (Porf. Penson) ने लिखा है—कि आदमी उत्पादन इसलिए करते हैं क्योंकि वे उपभोग करना चाहते हैं और केवल वे जो कुछ उत्पादन करते हैं उसका ही उपभोग कर सकते हैं।

1. Adam Smith ! "consumption is the sole end and purpose of all Production."

(2) उत्पत्ति, विनिमय एवं वितरण भी उपभोग पर ही निर्भर करता है उपभोग की मात्रा और स्वरूप ही उत्पत्ति विनिमय एवं वितरण की मात्रा और स्वरूप को प्रभावित करता है। उपभोग ही उत्पत्ति को प्रेरित करता है। व्यक्ति विनिमय भी इसीलिए करता है क्योंकि उसे विनिमय में प्राप्त वस्तु का उपभोग करना है। वितरण के पीछे भी उपभोग प्रेरक शक्ति है।

(3) उपभोग पर ही देश का आर्थिक कल्याण निर्भर है.— उपभोग की मात्रा पर ही देश का आर्थिक कल्याण निर्भर करता है यदि किसी देश के निवासियों को पर्याप्त मात्रा में उपभोग करने का अवसर मिलता है तो उस देश का आर्थिक कल्याण भी ज्यादा होता है। यहां के निवासियों का जीवन स्तर ऊंचा होता है और उनका जीवन अधिक पूर्ण एवं सुखी होता है। इसी प्रकार उपभोग के स्वरूप पर भी आर्थिक कल्याण निर्भर करता है। जिस समाज के उपभोग में दूध, पौष्टिक भोजन, शिक्षा, चिकित्सा, आदि का अधिक महत्व होता है वह समाज उन्नति करता है। जिस देश का समाज शराब, जुआ, चित्रपट एवं अन्य हानिकारक पदार्थों के उपभोग को अधिक महत्व देता है उस देश के सामाजिक और आर्थिक कल्याण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

उपभोग का महत्व

1. उपभोग आर्थिक क्रियाओं का आदि और अंत है।
2. उत्पत्ति, विनिमय और वितरण भी उपभोग पर ही निर्भर है।
3. उपभोग पर आर्थिक कल्याण निर्भर करता है।
4. पूंजी निर्माण भी उपभोग पर निर्भर है।
5. उपभोग कार्यक्षमता को प्रभावित करता है।
6. उपभोग आर्थिक समृद्धि और सभ्यता का प्रतीक है
7. उपभोग राष्ट्र की आय और रोजगार की मात्रा को निर्धारित करता है।

4. उपभोग पर ही पूँजी निर्माण निर्भर करता है:—यदि कोई व्यक्ति या अथवा देश समस्त आय उपभोग पर ही खर्च कर देता है तो उत्पादन और पूँजी के निर्माण में बाधा पहुँचती है जिसका आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अतः उपभोग को उचित सीमाओं में रख कर पूँजी निर्माण में तथा वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से रोकने में भी मदद मिलती है। भारत में मूल्य वृद्धि रोकने एवं पूँजी के संचय के लिए उपभोग की मात्रा को उचित सीमाओं में रखने की आवश्यकता है।

5. कार्यक्षमता उपभोग पर निर्भर करती है:—मनुष्यों की कार्यक्षमता बहुत कुछ उनके उपभोग पर निर्भर करती है। यदि देश वासियों को पर्याप्त मात्रा में अच्छी उपभोग सामग्री उपलब्ध होगी तो उच्च जीवन स्तर के परिणाम स्वरूप उनकी कार्यक्षमता (Efficiency) बढ़ेगी। परिणामस्वरूप श्रमिकों की उत्पादकता (Productivity) में वृद्धि होगी और देश में उत्पादन की मात्रा, राष्ट्रीय आय, आदि में वृद्धि होगी।

6. उपभोग आर्थिक समृद्धि और सभ्यता का प्रतीक होता है। किसी भी देश के उपभोग की मात्रा और स्वरूप उस देश की आर्थिक समृद्धि का प्रतीक होता है। उपभोग की मात्रा और स्वरूप के आधार पर ही दो विभिन्न देशों या वर्गों की आर्थिक समृद्धि की तुलना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सभ्यता का इतिहास भी उपभोग स्तर के विकास का इतिहास है। आधुनिक विकसित सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता उनकी विभिन्न प्रकार की असंख्य आवश्यकतायें एवं उसका उपभोग ही है।

7. उपभोग राष्ट्र की आय और रोजगार की मात्रा को निर्धारित करता है प्रो. कीन्स (*Prof. Keynes*) ने बतलाया है कि रोजगार का स्तर विनियोग (Investment) के ऊपर निर्भर करता है और विनियोग प्रभाव पूर्ण मांग पर निर्भर करता है जो स्वयं उपभोग पर काफी हद तक निर्भर करती है। जब लोगों का उपभोग बढ़ता है तो वस्तुओं की माँग भी बढ़ती है बढ़ी हुई मांग की पूर्ति के लिये कारखाने स्थापित

किये जाते हैं या पुरानों का विकास किया जाता है। इससे नये व्यक्तियों को रोजगार मिलता है। कीन्स के अनुसार रोजगार के लिये ऊंची उपभोग वृत्ति बहुत अनुकूल होती है।

सारांश

उपभोग का अर्थः—मानव आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष सन्तुष्टि के लिए किये गये वस्तुओं और सेवाओं के उपयोग को उपभोग कहते हैं। आवश्यकता पूर्ति के लिये पदार्थों के तुष्टिगुण को कम करने या नष्ट करने को उपभोग कहते हैं।

उपभोग के तत्वः—(1) उपभोग में मानव आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिये। (2) उपभोग के लिये आवश्यकता की प्रत्यक्ष सन्तुष्टि या वस्तु का अन्तिम प्रयोग होना जरूरी है। (3) उपभोग में पदार्थ नष्ट नहीं होते अपितु तुष्टिगुण का नाश होता है। (4) तुष्टिगुण का नाश धीरे या शीघ्र दोनों प्रकार से हो सकता है। (5) सेवाओं का उपयोग भी उपभोग कहलाता है।

उपभोग के भेदः—(अ) तत्काल और मंद उपभोग (ब) उत्पादक और अनुत्पादक उपभोग (स) वस्तु और सेवा उपभोग।

उपभोग का महत्वः—(1) उपभोग मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का आदि और अन्त है। (2) उत्पत्ति, विनिमय, और वितरण भी उपभोग पर ही निर्भर है (3) उपभोग पर आर्थिक कल्याण निर्भर करता है (4) पूंजी निर्माण भी उपभोग पर निर्भर है। (5) उपभोग कार्य क्षमता को भी प्रभावित करता है (6) उपभोग आर्थिक समृद्धि और सभ्यता का प्रतीक है। (7) उपभोग राष्ट्र की आय और रोजगार की मात्रा को निर्धारित करता है।

प्रश्न

1. उपभोग किसे कहते हैं ? क्या ये भी उपभोग के अन्तर्गत आते हैं ? (क) सिनेमा को (ख) घड़ी देखना (ग) इंजन में कोयले का

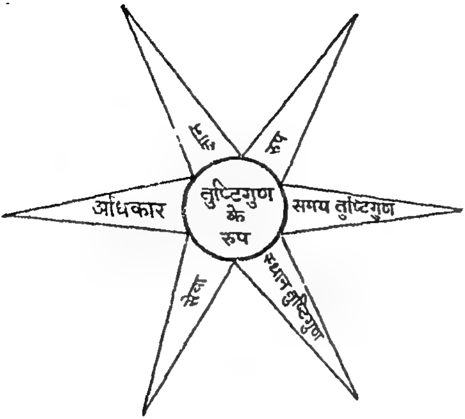

जितने प्रकार से हम तुष्टिगुण या मूल्य में वृद्धि करते हैं उतने ही उत्पादन के प्रकार होते हैं। उत्पादन या तुष्टि-गुण सृजन के निम्न प्रकार हैः—

1. रूप परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण (Form Utility) जब किसी पदार्थ के रूप, रंग, आकार, प्रकार, आदि में परिवर्तन करके उसमें तुष्टिगुण का सृजन या वृद्धि की जाती है तो इसे रूप परिवर्तन द्वारा उत्पादन कहते हैं। बढ़ई लकड़ी से फर्नीचर, ठठेरा पीतल से बरतन और जुलाहा सूत से कपड़े बनाकर लकड़ी, पीतल और सूत के रूप में परिवर्तन करके उनमें अधिक तुष्टिगुण उत्पन्न कर देते हैं। अतः यह रूप परिवर्तन द्वारा उत्पादन का उदाहरण है। गन्ने से चीनी, सोने से आभूषण, पत्थर से मकान, आदि बनाना इसी प्रकार के उत्पादन कहलाते हैं।

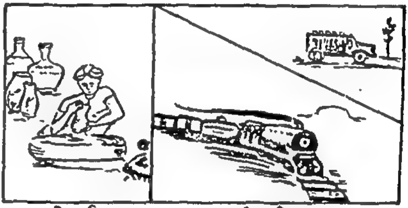

रूप परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण — स्थान परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण

2. स्थान परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण (Place Utility)—प्रत्येक वस्तु या सेवा की सब स्थानों पर समान उपयोगिता नहीं होती है। पानी की उपयोगिता नदियों के बजाय शहरों और खेतों में अधिक होती है। अतः जब किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर उसके तुष्टिगुण में वृद्धि की जाती है तो उसे स्थान मूलक तुष्टिगुण की वृद्धि कहते हैं।

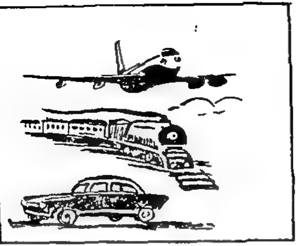

यातायात

कृषि उपज को गाँवों से शहरों में लाना, बम्बई से कपड़े को राजस्थान में लाना, भारत से चाय को इंगलैण्ड में ले जाना स्थान परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण में वृद्धि करके उत्पादन के उदाहरण हैं। यातायात की विभिन्न एजेन्सियाँ स्थान परिवर्तन द्वारा उत्पादन का कार्य करती हैं।

उत्पादन के प्रकार
1. रूप परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण
2. स्थान परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण
3. समय परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण
4. पात्र या अधिकार परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण
5. सेवा द्वारा तुष्टिगुण
6. ज्ञान द्वारा तुष्टिगुण

3. समय परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण में वृद्धि (Time Utility)—कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनके तुष्टिगुण में समय के साथ वृद्धि होती रहती है। शराब, चावल, आदि पदार्थ संचित करके सुरक्षित रखे जाने पर अधिक मूल्यवान हो जाते हैं। इसी प्रकार व्यापारी लोग फसल के

समय गेहूँ, चना, आदि को खरीद कर स्टाक कर लेते हैं और यह कुछ महीनों बाद बहुधा अधिक मूल्य पर बेचा जाता है। इस प्रकार की क्रियाएँ समय परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण या मूल्य में वृद्धि करती हैं। अतः इन क्रियाओं में संलग्न व्यक्ति-उदाहरणार्थ व्यापारी तथा स्टाकिस्ट, शीतागार (Cold Storage) के स्वामी आदि समय परिवर्तन द्वारा उत्पादन कार्य करते हैं।

समय परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण

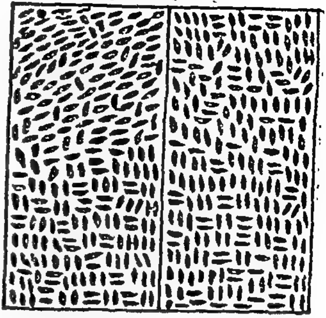

नया चावल डेढ़ रु० किलो — पुराना चावल दो रु० किलो

4. पात्र या अधिकार परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण में वृद्धि (Possession Utility):—एक वस्तु में सब व्यक्तियों का समान तुष्टिगुण नहीं मिलता पुस्तक विक्रेता के लिए पुस्तक में तुष्टिगुण, वस्त्र विक्रेता के लिए वस्त्र में तुष्टिगुण उनके क्रेताओं की अपेक्षा कम होता है। यही पुस्तक और वस्त्र जब विक्रेताओं से क्रेताओं के पास चली जाती है तो उसकी उपयोगिता या तुष्टि-गुण में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार क्रय विक्रय या अधि-कार (Possession) परि-वर्तन मात्र से पुस्तक और वस्त्र के तुष्टिगुण मे वृद्धि हो जाती है। अतः इसे अधिकार परिवर्तन द्वारा

अधिकार परिवर्तन द्वारा तुष्टिगुण

उत्पादन कहेंगे। विभिन्न प्रकार के व्यापारी तथा दुकानदार अधिकार परिवर्तन द्वारा उत्पादन का कार्य करते हैं।

5. सेवा द्वारा तुष्टिगुण (Sevice Utility):—विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार की सेवाओं से मनुष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। इन सेवाओं में भी तुष्टिगुण होता है। अतः ये भी उत्पादक है और इनकी सेवायें 'उत्पादन' कहलाती है। अध्यापक, न्यायाधीश, सम्पादक, फिल्म अभिनेता, ग्राम सेवक, वकील आदि का कार्य सेवा द्वारा उत्पादन है।

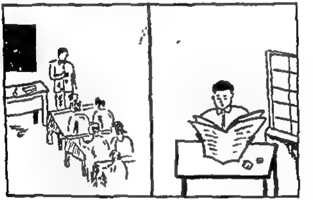

सेवा तुष्टिगुण ज्ञान तुष्टिगुण

(6) ज्ञान द्वारा तुष्टि गुण (Knowledge Utility)—हमारे लिए बहुत सी वस्तुओं में तुष्टिगुण नहीं होता क्योंकि हमें उनके बारे में जानकारी ही नहीं होती है। किन्तु उनके सम्बन्ध में पढ़कर, विज्ञापन आदि देखकर या सुनकर हमें उनके तुष्टिगुण का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान के प्रसार से तुष्टिगुण में वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ जब विज्ञापन प्रचार द्वारा किसी वस्तु (जैसे पुस्तक, पेन, रेफ्रीजरेटर, टानापोल, आदि के गुणों को बताया जाता है तो इनकी उपयोगिता उपभोक्ताओं के लिए बढ़ जाती है और वे इन्हें खरीदने लगते हैं। अतः

विज्ञापन लेखक, रेडियो और समाचार पत्र आदि उत्पादक हैं क्योंकि ये ज्ञान मूलक तुष्टिगुण की वृद्धि करते हैं।

उत्पादन एक प्रक्रिया है (*Production is a Process*)

उत्पादन एक प्रक्रिया है। यह तत्संबन्धी दीर्घकालीन क्रियाओं का परिणाम है। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट है। मान लीजिये आपने किसी दिन नाश्ते में बिस्कुट का उपभोग किया है। ये बिस्कुट अकस्मात् और तत्काल नहीं उत्पन्न हो गये हैं। इनके पीछे एक लम्बा इतिहास है। कुछ दिनों पूर्व इन्हे भट्टी (Bakery) में तैयार कर बनाया गया होगा। बिस्कुट बनाने वाले ने कई वस्तुयें मुख्य रूप से मैदा या आटे का उपयोग किया होगा। यह आटा कुछ सप्ताह पूर्व चक्की में गेहूँ पीसकर तैयार किया होगा। इस गेहूं में भी कुछ स्वदेश में उत्पन्न किये हुए और कुछ विदेशों से मंगाये गये हो सकते हैं। इस गेहूं को भी पिछले वर्ष खेतों से काटकर तैयार किया होगा। गेहूँ काटने के कई माह पूर्व खेतों की जुताई करके गेहूं बोये होंगे। इस प्रकार खेतों की जुताई से लेकर बिस्कुटों के भोजन की मेज पर पहुंचने के सीधे सादे उदाहरण में भी एक वर्ष का समय लग गया होगा। इतना ही नहीं उपरोक्त उदाहरण में जुताई, बुवाई, फसल कटाई, दाना निकालने, आटा पीसने, बिस्कुट बनाने आदि में शक्ति और कई प्रकार के यंत्रों की आवश्यकता होगी। यदि पशु शक्ति का उपयोग किया गया हो तो पशुओं को खिलाने के लिये घास और दाने की आवश्यकता पड़ी होगी जिसका उत्पादन हमारी उत्पादन प्रक्रिया का पीछे की तरफ और विस्तार कर देता है। यदि इस कार्य के लिए ट्रैक्टर और यंत्रों का उपयोग किया गया हो तो उन्हें चलाने के लिए तेल, कोयला या विद्युत शक्ति की आवश्यकता पड़ी होगी जिन्हें स्वदेश या विदेशों में इनके उत्पादन क्षेत्रों से खेतों पर पहुँचाने को भी बिस्कुट की उत्पादन प्रक्रिया का एक अंग ही माना जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त ट्रैक्टर, दाना निकालने और साफ करने की मशीनें, पीसने की मशीनें, वि[illegible] भ[illegible] (Oven[illegible] [illegible] कहीं न कहीं

बनाये गये होंगे जिनके लिये लोहा, कोयला एवं अन्य सामग्री की आवश्यकता होगी। इन्हें लाने ले जाने के लिए जहाज, रेलों आदि का भी कई वर्ष पूर्व निर्माण हुआ होगा। इस प्रकार बिस्कुट की उत्पादन प्रक्रिया और लम्बी हो जाती है। और कई वस्तुओं के उत्पादन से इसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। जो बात बिस्कुट के बारे में सही है वही बात अन्य वस्तुओं के उत्पादन के बारे में भी सही है। अतः स्पष्ट है कि उत्पादन एक प्रक्रिया है।

उत्पादक क्रियायें और उत्पादक (Productive activities and Producers)

कुछ प्राचीन अर्थशास्त्रियों का मत था कि केवल खेतों, कारखानों, आदि में काम करने वाले व्यक्तियों का कार्य जिसका परिणाम किसी भौतिक वस्तु (Physical material) का निर्माण है उत्पादन कहलाता है। अर्थशास्त्र के जनक एडमस्मिथ ने वकीलों, डाक्टरों, साहित्यिकों, गायकों आदि के कार्यों को अनुत्पादक (Unproductive) बतलाया था क्योंकि इनका कार्य उनकी उत्पत्ति के क्षण ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार के कार्यों और सेवाओं के उत्पादन न मानने का एक कारण यह है कि अन्य वस्तुओं के उत्पादन में कुछ समय लगता है और उनके उत्पादन और उपभोग में भी कुछ अन्तर रहता है। यह कार्य एक प्रक्रिया (process) है किन्तु प्रत्यक्ष सेवाओं के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। यहाँ दोनों कार्य अविभाज्य है और एक साथ सम्पन्न होते हैं। किन्तु इससे इन सेवाओं की आवश्यकता संतुष्टि की शक्ति मे कोई अन्तर नहीं है। उत्पादन का अर्थ आवश्यकता सतुष्टि की शक्ति या तुष्टि गुण का सृजन है। अतः ये कार्य भी उत्पादन की श्रेणी में सम्मिलित किये जाने चाहिये। कारखाने मे रेडियो का निर्माण निसंदेह उत्पादन है किन्तु दुकान पर इसका प्रदर्शन (display) और बिक्री भी उत्पादक क्रिया है। यही बात इसकी मरम्मत के बारे में है। प्रकार इंजीनियरों और आकाशवाणी पर कार्यक्रम का कार्य जिनके बिना रेडियो व्यर्थ रहेगा

अतः न केवल जुलाहे; किसान, बढ़ई और कारखानों में रेडियो, दवाइयां, वस्त्र, मशीनें, कागज बनाने का कार्य उत्पादन और इन क्रियाओं को करने वाले उत्पादक हैं वल्कि ड्राईवर, क्लर्क, नौकर, व्यापारी, बहरूपिया, धोबी, संगीतज्ञ, सिनेमा संगीत लेखक आदि भी उत्पादक हैं और इन सबके कार्य अर्थशास्त्र में 'उत्पादन' है जो व्यक्ति तुष्टिगुण या मूल्य का सृजन या इनमें वृद्धि करते हैं वे सब उत्पादक हैं।

उत्पादक व्यवसाय—उत्पादक व्यवसायों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. **प्राथमिक व्यवसाय** (Primary occupation)–कृषि (Agriculture); बागान (Plantation), मछली पकड़ना (Fisheries), खान खादना (Mining); पशुपालन (Animal Husbandry); शिकार (Hunting), वन उपज एकत्रित करना (Forestry) आदि।

2. **औद्योगिक या निर्माणी व्यवसाय** (Manufacturing *occupations*):—

(अ) **वृहत् उद्योग** (Large scale industries)—जैसे जूट, वस्त्र, सीमेंट, लोहा और इस्पात, मोटर, जहाज, रेल निर्माण आदि।

(ब) **कुटीर और ग्रामीण उद्योग** (Cottage and small scale Industries)—जैसे जूतियां, टोकरियां, खिलौने, गुड़ आदि बनाना।

(स) **वाणिज्य सम्बन्धी व्यवसाय** (Commercial occupation) जैसे व्यापार (Trade), यातायात (Transport), संवादवाहन (Communications), बैंकिग (Banking), बीमा (Insurance) आदि।

3. **सेवा सम्बन्धी व्यवसाय** (Service Occupation) सार्वजनिक (Public) सेवाएं तथा निजी (Private) सेवाएं।

उत्पादन और उपभोग

एक ही क्रिया के दो पहलू—*यद्यपि उपभोग और उत्पादन में अंतर* है किन्तु यह दोनों एक ही आर्थिक क्रिया के दो पहलू हैं। उपभोग वह

क्रिया है जिसमें तुष्टि गुण नष्ट होता है और तुष्टिगुण के सृजन को उत्पादन कहते हैं। अतः प्रत्येक कार्य उत्पादन और उपभोग दोनों ही है। उदाहरण के लिए जब एक सुनार सोने से आभूषण बनाता है तो वह सोने के तुष्टिगुण में वृद्धि करके उत्पादन कार्य करता है। किन्तु साथ ही सोने के रूप में तुष्टिगुण को नष्ट करके उपभोग का कार्य भी करता है। इसी प्रकार जब एक व्यक्ति कारखाने में मशीनें चलाने के लिए कोयले का उपभोग करके चीनी का उत्पादन करता है तो कोयले के तुष्टिगुण को समाप्त करके उपभोग का कार्य भी करता है। दूसरी ओर जब एक व्यक्ति दूध का उपभोग करता है तो साथ ही साथ अपनी शक्ति में वृद्धि करके उत्पादन का कार्य भी करता है। प्रो॰जे॰के॰मेहता के अनुसार उत्पादन और उपभोग दोनों ही आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करते हैं किन्तु भिन्न प्रकार की। उपभोग में आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष संतुष्टि की जाती है और उत्पादन आवश्यकताओं की अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि।

उत्पादन जीवन के दो महत्वपूर्ण पहलुओं में से एक —मानव जीवन अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य की समस्त क्रियाओं को मोटे रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक श्रेणी के अन्तर्गत वे क्रियाएं आती हैं जिनसे वह साधन जुटाता है। इसे उत्पादन कहते हैं। दूसरे वर्ग में वे क्रियाएं आती हैं जिनका सम्बन्ध प्राप्त साधनों का अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उपयोग (Use) में है। मनुष्य को राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, एवं अन्य दायित्वों को निभाने के लिए साधनों की जरूरत पड़ती है। रिटायर्ड जीवन में भी आराम और मनोरञ्जन के लिए भी साधनों का उपभोग किया जाता है। इस प्रकार मानव जीवन के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं एक उत्पादन और दूसरा उपभोग।

साधारणतया अर्थशास्त्र को हम पाच मुख्य विभागों में करते हैं—उपभोग; उत्पादन, [illegible]
गहराई से देखा जाय तो यह सब क्रियाएं उपभोग

समा जाती हैं। वितरण की क्रिया स्थान और अधिकार तुष्टिगुण उत्पन्न करती है और विनिमय में से भी स्थान और अधिकार तुष्टिगुण का सृजन होता है। इस प्रकार वितरण और विनमय तुष्टिगुण का सृजन करके उत्पादन के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इसके अतिरिक्त वितरक और विनिमय की क्रियाएं उपभोग और उत्पादन के साधन के रूप में हैं। उत्पादन का अन्तिम ध्येय उपभोक्ताओं को उनकी आवश्यकता की वस्तुएं उपलब्ध कराना है और यह कार्य विनिमय और वितरण के माध्यम से होता है। अतः एक दृष्टि से विनिमय और वितरण की क्रियाएं उत्पादन का ही भाग हैं। इसी प्रकार राजवित्त (Public Finance) का सम्बन्ध आवश्यकताओं को सामूहिक संतुष्टि और उसके लिये साधन जुटाने से है।

उपभोक्ता और उत्पादक दो भिन्न व्यक्ति नहीं होते। प्रत्येक मनुष्य उत्पादक के साथ उपभोक्ता भी होता है। यदि कोई जुलाहा वस्त्र का उत्पादन करते हुए उत्पादक के रूप में हमारे सामने आता है तो वस्त्र पहनकर उपभोक्ता के रूप में भी दिखाई देता है। यदि कोई मजदूर कारखाने में चीनी बनाते समय उत्पादक है तो वही थोड़े समय पश्चात बाजार में कई वस्तुओं का क्रय कर उपयोग करते हुए उपभोक्ता के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य की आर्थिक क्रियाएं मुख्यरूप से या तो उत्पादन में या उपभोग में या दोनों में संयुक्त रूप से सम्मिलित की जा सकती हैं। अतः आर्थिक जीवन के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं एक उत्पादन और दूसरा उपभोग। दोनों ही अत्यन्त महत्वपूर्ण और परस्पर आश्रित हैं। इसीलिए प्रो. जे. आर. हिक्स ने लिखा है कि "मनुष्य की समस्त आर्थिक क्रियाएं उपभोक्ताओं द्वारा चाही गई वस्तुओं को बनाने और कार्यों को करने के लिए श्रमिकों और उत्पादकों के सहयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आर्थिक जीवन उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए उत्पादकों का एक संगठन है।"

आधुनिक उत्पादन प्रणाली की जटिलता (Complexity of

Modern Productive System)—आधुनिक युग में उत्पादन की प्रणाली बड़ी जटिल है। प्राचीनकाल में मनुष्य की आवश्यकतायें सीमित थी। वह स्वयं अपने उत्पादन प्रयासों से अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर लेता था। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ-साथ आवश्यकताओं की मात्रा और स्वरूप में तेजी से वृद्धि हुई। अब कई प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन जरूरी हो गया। उनमें आवश्यकता की सब वस्तुयें स्वयं व्यक्ति के द्वारा उत्पन्न करना असम्भव हो गया। अतः विनिमय और श्रम विभाजन का जन्म हुआ। किन्तु फिर भी यातायात के वर्तमान साधनों के विकास के समय तक मनुष्य जाति का अधिकांश भाग आत्मनिर्भर गांवों में निवास करता था। धीरे-धीरे श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण (Specialization) का और अधिक विकास हुआ। अब एक व्यक्ति अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार न केवल एक वस्तु बल्कि एक वस्तु के भी अति सूक्ष्म भाग को बनाने में ही योग देता है। अमेरिका में जूते बनाने का कार्य लगभग अस्सी उपक्रियाओं में विभाजित करके सम्पन्न किया जाता है। यही नहीं उद्योगों के स्थानीयकरण (Localisation of Industry) के कारण विश्व के विभिन्न देश ही नहीं अपितु एक देश के विभिन्न भाग भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने लगे हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण असंख्य प्रकार की मशीनों का निर्माण हुआ है जिनके द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन (Large Scale Production) होने लग गया है। इसके परिणाम स्वरूप देशीय (Inland) और अन्तर्राष्ट्रीय (International) व्यापार होने लग गया है। इंग्लैण्ड, अमेरिका में उपयोग की जाने वाली चाय, जूट की सामग्री आदि भारत में उत्पन्न की जाती है। भारत में उपयोग में लाई जाने वाली कई वस्तुओं का उत्पादन इंगलैण्ड, अमरीका, जापान, मिश्र, युगोस्लाविया आदि देशों में होता है। बड़े पैमाने के उत्पादन और विनिमय व्यापार को सफल बनाने के लिए रेल,

मुद्रा, साख, बीमा आदि संस्थाओं का उपयोग किया जाता है। अतः इन सबमें सहयोग आवश्यक है। एक वस्तु के उत्पादन के लिए कई प्रकार का कच्चा माल शक्ति, मशीनें, तकनीकी ज्ञान, श्रम, भूमि, व्यवस्था, साहस आदि की आवश्यकता होती है जिन्हें विश्व के विभिन्न स्थानों से जुटाना पड़ता है।

बहुत ही कम उत्पादित वस्तुयें ऐसी होती हैं जो कि प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ताओं को वेची जाती हों। यह बहुधा एक फर्म को उत्पादित वस्तु दूसरी फर्म को वेच दी जाती है। यह दूसरी फर्म भी उस वस्तु पर कुछ क्रिया (operation) करके और अधिक उपयोग बनाती है। बहुधा यह होता है कि एक फर्म के द्वारा निर्मित वस्तु पूर्ण रूप से इस योग्य नहीं होती कि उपभोक्ता उसका उसी रूप में उपभोग कर सकें। इस्पात कारखाना, कताई मिलों आदि का उत्पादन कई उपयोगी वस्तुओं के निर्माण के लिये कच्चे माल और अर्द्ध निर्मित माल के रूप में काम में लाया जाता है। वे बहुधा ऐसी उत्पादक इकाइयों को वेची जाती हैं जो उन्हें आगे उत्पादन सामग्री के रूप में काम में लाते हैं। यदि कोई उत्पादक इकाई ठीक उसी वस्तु का उत्पादन कर लेती है जिसे उपभोक्ता उस रूप में चाहते हैं जैसे अखबार, बिस्कुट, कंघा आदि तब भी इसे जहां और जिस समय इसकी आवश्यकता हो वहां और उस समय पहुँचाने की आवश्यकता होती है। इसके लिए व्यापारी, दुकानदार, यातायात और संदेशवाहन के साधनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में एक व्यक्ति की आवश्यकतायें ऐसी उत्पादन एवं विनिमय प्रणाली द्वारा पूरी की जाती है, जिसमें असंख्य व्यक्ति भाग लेते हैं। साधारण श्रमिक भी जिस वस्तु को उत्पन्न करता है या उत्पादित वस्तु के बदले में जो वस्तु प्राप्त करता है वह असंख्य उत्पादकों के विश्वव्यापी और विस्तृत सहयोग का परिणाम है जिसके अभाव में उत्पादन प्रणाली के संचालन में विघ्न पड़ सकते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज उत्पादन प्रणाली बड़ी

जटिल है। आज असंख्य वस्तुओं की असंख्य किस्मों की अपरिमित मात्रा में उत्पादन असंख्य उत्पादक इकाइयों द्वारा किया जाता है। अतः उत्पादन प्रणाली के ठीक प्रकार से संचालन के लिये योजना और देखरेख आवश्यक है। विभिन्न स्थानों में बिखरी हुई इन असंख्य उत्पादक इकाइयों में समन्वय जरूरी है। मांग और पूर्ति में भी समन्वय आवश्यक है अन्यथा हो सकता है कि किसी समय किसी वस्तु की पूर्ति मांग से अत्यधिक हो सकती है और कभी यह मांग के मुकाबले में अत्यन्त कम हो सकती है। इससे तेजी मन्दी के दौर और व्यापार चक्र (Trade cycle) आते हैं। इसी प्रकार उत्पादन सुचारु रूप से जारी रहने के लिये कच्चा माल और शक्ति मशीनें आदि आवश्यक वस्तुएं समय पर उपलब्ध कराना जरूरी है इनको कारखानों तक पहुँचाने और निर्मित माल को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिये यातायात के समुचित साधनों का विकास और उनका समन्वय आवश्यक है। उत्पादन सुचारु रूप से संचालित हो इसके लिये बैंक मुद्रा और साख का उचित नियंत्रण और देखरेख भी आवश्यक है। इनके उचित नियन्त्रण और आवश्यकताओं के अनुसार समन्वय नहीं किये जाने पर सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था (Economy) ध्वस्त हो सकती है। अतः उत्पादन प्रणाली के सुसंचालन के लिये देखरेख और एक निश्चित योजना जरूरी है। यही कारण है कि आज विश्व के समस्त देशों में योजना-बद्ध अर्थ व्यवस्था (Planned economy) को अपनाया जा रहा है जिसके अनुसार देश के साधनों, आवश्यकताओं और उत्पादन में समन्वय स्थापित किया जाता है और अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखा जाता है। साम्यवादी देशों में तो अर्थ-व्यवस्था और उत्पादन प्रणाली पर यह नियन्त्रण प्रत्यक्ष और अधिक व्यापक होता है किन्तु पूंजीवादी या निजी उद्यम (Private enterprise) पर आधारित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में भी उत्पादन प्रणाली के सुसंचालन के लिये किसी न किसी रूप में योजना और देखरेख आवश्यक है।

मुद्रा, साख, बीमा आदि संस्थाओं का उपयोग किया जाता है। अतः इन सबमें सहयोग आवश्यक है। एक वस्तु के उत्पादन के लिए कई प्रकार का कच्चा माल शक्ति, मशीनें, तकनीकी ज्ञान, श्रम, भूमि, व्यवस्था, साहस आदि की आवश्यकता होती है जिन्हें विश्व के विभिन्न स्थानों से जुटाना पड़ता है।

बहुत ही कम उत्पादित वस्तुयें ऐसी होती हैं जो कि प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ताओं को बेची जाती हों। यह बहुधा एक फर्म की उत्पादित वस्तु दूसरी फर्म को बेच दी जाती है। यह दूसरी फर्म भी उस वस्तु पर कुछ क्रिया (operation) करके और अधिक उपयोग बनाती है। बहुधा यह होता है कि एक फर्म के द्वारा निर्मित वस्तु पूर्ण रूप से इस योग्य नहीं होती कि उपभोक्ता उसका उसी रूप में उपभोग कर सकें। इस्पात कारखाना, कताई मिलों आदि का उत्पादन कई उपयोगी वस्तुओं के निर्माण के लिये कच्चे माल और अर्द्ध निर्मित माल के रूप में काम में लाया जाता है। वे बहुधा ऐसी उत्पादक इकाइयों को बेची जाती हैं जो उन्हें आगे उत्पादन सामग्री के रूप में काम में लाते हैं। यदि कोई उत्पादक इकाई ठीक उसी वस्तु का उत्पादन कर लेती है जिसे उपभोक्ता उस रूप में चाहते हैं जैसे अखबार, बिस्कुट, कंघा आदि तब भी इसे जहां और जिस समय इसकी आवश्यकता हो वहां और उस समय पहुँचाने की आवश्यकता होती है। इसके लिए व्यापारी, दुकानदार, यातायात और संदेशवाहन के साधनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में एक व्यक्ति की आवश्यकतायें ऐसी उत्पादन एवं विनिमय प्रणाली द्वारा पूरी की जाती है, जिसमें असंख्य व्यक्ति भाग लेते हैं। साधारण श्रमिक भी जिस वस्तु को उत्पन्न करता है या उत्पादित वस्तु के बदले में जो वस्तु प्राप्त करता है वह असंख्य उत्पादकों के विश्वव्यापी और विस्तृत सहयोग का परिणाम है जिसके अभाव में उत्पादन प्रणाली के संचालन में विघ्न पड़ सकते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज उत्पादन प्रणाली बड़ी

जटिल है। आज असंख्य वस्तुओं की असंख्य किस्मों की अपरिमित मात्रा में उत्पादन असंख्य उत्पादक इकाइयों द्वारा किया जाता है। अतः उत्पादन प्रणाली के ठीक प्रकार से संचालन के लिये योजना और देखरेख आवश्यक है। विभिन्न स्थानों में बिखरी हुई इन असंख्य उत्पादक इकाइयों में समन्वय जरूरी है। माग और पूर्ति में भी समन्वय आवश्यक है अन्यथा हो सकता है कि किसी समय किसी वस्तु की पूर्ति माग से अत्यधिक हो सकती है और कभी यह माग के मुकाबले में अत्यन्त कम हो सकती है। इससे तेजी मन्दी के दौर और व्यापार चक्र (Trade cycle) आते हैं। इसी प्रकार उत्पादन सुचारु रूप से जारी रहने के लिये कच्चा माल और शक्ति मशीनें आदि आवश्यक वस्तुएं समय पर उपलब्ध कराना जरूरी है इनको कारखानों तक पहुँचाने और निर्मित माल को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिये यातायात के समुचित साधनों का विकास और उनका समन्वय आवश्यक है। उत्पादन सुचारु रूप से संचालित हो इसके लिये बैंक मुद्रा और साख का उचित नियंत्रण और देखरेख भी आवश्यक है। इनके उचित नियन्त्रण और आवश्यकताओं के अनुसार समन्वय नहीं किये जाने पर सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था (Economy) ध्वस्त हो सकती है। अतः उत्पादन प्रणाली के सुसंचालन के लिये देखरेख और एक निश्चित योजना जरूरी है। यही कारण है कि आज विश्व के समस्त देशों में योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था (Planned economy) को अपनाया जा रहा है जिसके अनुसार देश के साधनों, आवश्यकताओं और उत्पादन में समन्वय स्थापित किया जाता है और अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखा जाता है। साम्यवादी देशों में तो अर्थ-व्यवस्था और उत्पादन प्रणाली पर यह नियन्त्रण प्रत्यक्ष और अधिक व्यापक होता है किन्तु पूंजीवादी या निजी उद्यम (Private enterprise) पर आधारित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में भी उत्पादन प्रणाली के सुसंचालन के लिये किसी न किसी रूप में योजना और देखरेख आवश्यक है।

उत्पादन का महत्व
(Importance of Production)

"अमृत की वर्षा स्वर्ग से नहीं होती।" प्रो० बेन्हम (Prof. Benham) के इस कथन से उत्पादन का महत्व स्पष्ट हो जाता है। आवश्यकता एवं संतुष्टि की कल्पनाएं उत्पादन द्वारा ही साकार होती हैं। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की आर्थिक समृद्धि और भौतिक कल्याण उत्पादन पर ही आश्रित है। आवश्यकता—प्रयत्न—संतुष्टि के चक्र में प्रयत्न या उत्पादन की कड़ी ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उत्पादन आर्थिक प्रगति की कुंजी है। आर्थिक जगत में व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से उत्पादन का महत्व है जो निम्न विवेचन से स्पष्ट है—

1. उत्पादन पर आवश्यकताओं की पूर्ति निर्भर है—उत्पत्ति के बिना हमारी आवश्यकताओं की संतुष्टि कदापि नहीं हो सकती है। व्यक्ति या तो स्वयं के द्वारा उत्पादित वस्तु से अपनी आवश्यकता संतुष्ट करता है या इन्हें बाजार में विनिमय करके मुद्रा या धन प्राप्त करके तब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसी प्रकार समाज का उपभोग भी उत्पत्ति की मात्रा और उसके स्वभाव पर निर्भर करता है। अल्पकाल में कोई व्यक्ति या समाज उत्पादन से अधिक उपभोग करलें किन्तु दीर्घ काल में उपभोग उत्पत्ति की मात्रा द्वारा ही निर्धारित होता है। उत्पादन कम होने पर हमारी आवश्यकताएं अपूर्ण रहेंगी और उत्पादन अधिक होने पर हमारी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति संभव होगी।

> **उत्पादन का महत्व**
> 1. आवश्यकताओं की पूर्ति निर्भर
> 2. जीवन स्तर और कार्य कुशलता
> 3. देश की आर्थिक उन्नति का साधन
> 4. मूल्यों में कमी
> 5. सरकारी आय में वृद्धि
> 6. राजनैतिक शक्ति में वृद्धि

2. जीवन स्तर और कार्य कुशलता उत्पादन पर निर्भर करती है:—किसी व्यक्ति या समाज का जीवन स्तर और कार्य कुशलता उस देश में

उत्पादित वस्तुओं की मात्रा और प्रकार पर निर्भर करती है। यदि किसी देश में उत्पादन अधिक मात्रा में होता है, आवश्यक और लाभदायक वस्तुओं का अधिक उत्पादन होता है तो राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय (National and per capita income) अधिक होगी और व्यक्तियों का जीवन स्तर भी ऊंचा होगा। परिणामस्वरूप उनकी कार्य कुशलता और उत्पादकता बढ़ेगी जिसके कारण और अधिक उत्पादन होगा, जीवन स्तर ऊंचा होगा और यही क्रम चलता रहेगा। इसके विपरीत उत्पादन कम होने पर विपरीत परिणाम होंगे। भारत में उत्पादन कम होने के कारण ही देशवासियों का जीवन स्तर और कार्य कुशलता कम है। अमेरिका, इंग्लैंड, रूस आदि देशों में जीवन स्तर और कार्यकुशलता के उच्च स्तर का कारण उत्पादन की प्रचुरता और विभिन्नता ही है।

3. देश की आर्थिक उन्नति के साधन—देश की आर्थिक प्रगति का साधन उत्पादन ही है। उत्पादन की वृद्धि से ही रोजगार, व्यापार तथा व्यवसाय की प्रगति होती है। जितना अधिक उत्पादन होगा उतना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी बढ़ेगा। उत्पादन की अधिकता होने पर हम निर्यात (Export) अधिक करके तथा आयात (Import) कम करके विदेशी मुद्रा की स्थिति को दृढ़ बना सकते हैं।

4. मूल्यों में कमी—वस्तु की पूर्ति कम होने पर उसके मूल्यों में वृद्धि हो जाती है और पूर्ति में वृद्धि होने पर मूल्य कम होने लगते हैं। उत्पादन बढ़ाने पर बढ़ती हुई कीमतों पर रोक लग जाती है। भारतवर्ष में गत वर्षों में मूल्यों में भारी वृद्धि उत्पादन की कमी के कारण हुई है जिसे रोकने का एक मात्र उपाय उत्पादन में निरन्तर वृद्धि है।

5. सरकारी आय में वृद्धि—देश की सरकारी आय भी उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है। सरकार अपनी आय नागरिकों एवं कम्पनियों की आय और धन पर कर लगाकर प्राप्त करती है। यदि उत्पादन में वृद्धि होगी तो लोगों की आय और धन में वृद्धि होगी और

2. उत्पादन से आप क्या अर्थ समझते हैं ? क्या निम्नलिखित उत्पादन-कर्त्ता हैं ?

(क) कृषक (ख) कालेज के विद्यार्थी (ग) प्रोफेसर
(घ) माता पिता (ङ) व्यापारी (च) बढ़ई ।

(उ० प्र० बोर्ड, इण्टर, 1952, म०प्र० बोर्ड, इण्टर 1952 व 1961)

3. उपभोग वस्तुओं तथा उत्पादन वस्तुओं में क्या अन्तर है ?

4. "उपयोगिता सृजन करना ही उत्पादन है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? (राज०बोर्ड हा. से., 1963)

5. क्या निम्नांकित उत्पादक हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिये—

(i) बढ़ई (ii) चोर (iii) व्यापारी (iv) न्यायाधीश
(v) एक दर्जी जो ऐसा कोट बनाता है कि उसके ग्राहक के ठीक नहीं बैठता (vi) पाकिस्तानी जासूस ।

(राज. बोर्ड हा. से., 1966)

6. आधुनिक युग में उत्पादन प्रणाली इतनी जटिल क्यों हो गई है ? इसके सुसंचालन के लिए किस बात की आवश्यकता है ?

7. उत्पादन एक प्रक्रिया है, इसे स्पष्ट कीजिये ।

8. आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन का क्या महत्त्व है ?

——

4 उत्पादन के साधन या उपादान

FACTORS OF PRODUCTION

'कोई वस्तु जो उत्पादन में सहायता पहुंचाती है, उत्पादन का साधन है।'—प्रो. बेन्हम

प्रत्येक उत्पादन कार्य में कुछ वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनकी सहायता के बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती। मकान बनाने के लिये पत्थर, ईंट, सीमेंट, चूना, भूमि, मिट्टी, मजदूर, औजार, आदि चाहिए। अनाज उत्पादन करने के लिए भूमि, पशु, बीज, औजार, श्रमिक, आदि चाहिए। इन सबको उत्पत्ति के साधन कहते हैं क्योंकि ये उत्पादन में सहायता करते हैं। अतः उत्पादन के साधनों का अर्थ उन वस्तुओं और सेवाओं से है जिनका धन के उत्पादन कार्य में उपयोग किया जाता है। प्रो. बेन्हम (Prof. Benham) के मतानुसार "कोई वस्तु जो उत्पादन में सहायता पहुँचाती है उत्पादन का साधन है।"

उदाहरण के लिए चीनी के उत्पादन को लीजिए। इसके लिए कारखाना स्थापित करने के लिए भूमि (land) चाहिए। गन्ना, मशीनें, तेल और भवनों के रूप में पूंजी (Capital) चाहिए। मशीनों को चलाने और अन्य कार्यों के लिए श्रमिक (labour) चाहिए। इन सब साधनों का उचित प्रबन्ध करके उचित अनुपात में उपयोग में लाने और काम की देख-रेख तथा संचालन के लिए भी एक व्यक्ति की

आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्ति का संगठक और उसके कार्य को संगठन या व्यवस्था (Organisation) कहते हैं। प्रत्येक व्यवसाय में सदा लाभ ही नहीं होता। कभी-कभी हानि की भी संभावना है। आधुनिक युग में बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है अतः लाभ-हानि की जोखिम भी अधिक होती है। अतः ऐसे व्यक्ति की भी आवश्यकता होती है जो लाभ-हानि की इस जोखिम (Risk) को उठा सके। इस जोखिम झेलने के कार्य को उद्यम (Enterprise) कहते हैं। इसी प्रकार उत्पादन के प्रत्येक कार्य में भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन और उद्यम की आवश्यकता होती है।

उत्पादन के साधन (*Factors of Production*)—प्रायः उत्पादन के निम्न पांच साधन माने जाते हैं।

1. भूमि (Land)—अर्थशास्त्र में भूमि से आशय पृथ्वी या जमीन के धरातल से ही नहीं परन्तु उन सब प्राकृतिक साधनों, पदार्थों और शक्तियों से है जो मनुष्य के लिए प्रकृति द्वारा धरातल पर, उसके नीचे और ऊपर निःशुल्क (free) प्रदान किये जाते हैं। **प्रो. अल्फ्रेड-मार्शल** के अनुसार "भूमि का अर्थ उन सभी पदार्थों और शक्तियों से है जो प्रकृति की ओर से मनुष्य की सहायता के लिए थल और जल, हवा, प्रकाश और उष्णता के रूप में निःशुल्क प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार इन अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता है कि भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है। मिट्टी, समुद्र, नदियाँ वायु, वर्षा, प्राकृतिक जंगल, खानें, आदि इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। **प्रो. जे. आर. हिक्स (Prof. J. R. Hicks)** के अनुसार "भूमि में वे सब स्थाई उपयोग की वस्तुएँ आती हैं जो प्रकृति द्वारा प्रदान की गई हैं।"

कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भूमि की इससे भिन्न परिभाषा दी है। अर्थशास्त्री योजर के अनुसार कुछ साधन ऐसे होते हैं जिनका उपयोग नहीं बदला जा सकता। दूसरे प्रकार के साधन ऐसे होते हैं जिनके उपयोग को बदला जा सकता है। पहले प्रकार के साधनों को जिनका समय विशेष पर एक ही उपयोग होता है विशिष्ट (Specific) साधन कहते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री साधनों की

उत्पादन के पाँच साधन हैं
1. भूमि
2. श्रम
3. पूंजी
4. संगठन
5. उद्यम

इस विशिष्टता या परिमाणिकता (Specificity) अर्थात् एक ही उपयोग में लिए आने के गुण को भूमि या भूमि तत्व (land element) कहते हैं। प्रो० मेहता के अनुसार भूमि कोई भी वह वस्तु है जो परिमाणिक (Specific) है अर्थात् जिसका समय विशेष में केवल एक ही उपयोग सम्भव है।

2. श्रम (Labour)—साधारण बोल चाल की भाषा में प्रत्येक शारीरिक कार्य को श्रम कहा जाता है। किंतु अर्थशास्त्र में श्रम का अर्थ भिन्न है। अर्थशास्त्र में श्रम केवल उस मानवीय प्रयत्न को कहते हैं जिसका उद्देश्य धन कमाना होता है। दैनिक बोलचाल की भाषा में माता का खाना बनाना, छात्रों का फुटबाल खेलना, मनोरंजन के लिए गीत गाना भी श्रम कहलाता है किंतु अर्थशास्त्र में ये कार्य श्रम नहीं कहलाते क्योंकि इन्हें मुद्रा या धन प्राप्ति के लिए नहीं किया गया है। इसके विपरीत किसान का हल चलाना, बढ़ाई का कुर्सी बनाना, शारीरिक शिक्षक का फुटबाल खिलाना, वकील का वकालात करना 'श्रम' है क्योंकि इनका उद्देश्य धनोपार्जन है। यहां एक बात ध्यान देने योग्य है। हम न केवल शारीरिक कार्य को ही अपितु मानसिक कार्य को भी जिसका उद्देश्य धनोपार्जन हो श्रम में सम्मिलित करते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मानवीय प्रयत्न चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक जिसका उद्देश्य धनोपार्जन होता है अर्थशास्त्र में 'श्रम' कहलाता है।

प्रो० जेवन्स के अनुसार (Prof. Jevons) "श्रम वह मानसिक या शारीरिक प्रयत्न है जो आंशिक या पूर्ण रूप से कार्य से प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्ति के अतिरिक्त प्रतिफल की दृष्टि से किया जाय।"

प्रो० टामस (Prof. Thomas) के शब्दों में "श्रम का अर्थ उस मानवीय प्रयत्न से है चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक जो किसी प्रतिफल की प्राप्ति की आशा से किया जाता है।"

3. पूंजी (Capital)—सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आवश्यकताएँ बढ़ती गई जिनकी पूर्ति के लिए बड़ी मात्रा में कई प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन आवश्यक हो गया। केवल श्रम और भूमि किसी वस्तु का बड़े पैमाने पर उत्पादन नहीं कर सकते हैं। इसके लिए मनुष्य को कृत्रिम वस्तुएँ जैसे मशीनें, और, भवन, आदि की सहायता लेनी पड़ती है। ये सब वस्तुएं पूंजी कहलाती हैं। इस प्रकार मनुष्यकृत (Man made) धन का वह भाग जो और अधिक धन के उत्पादन में प्रयोग किया जाता है पूंजी कहलाता है। जैसे मशीनें, औजार, कच्चा माल, ईंधन (Fuel), नहरें, रेलें, आदि।

प्रो० चेपमेन के अनुसार (Prof. Chapman)—"पूंजी वह धन है जो आय प्रदान करता है या आय के उत्पादन में सहायता करता है या जिसका इरादा इस प्रकार का होता है।"

प्रो० टामस के शब्दों में (Prof. Thomas)—"पूंजी व्यक्तियों और समाज की सम्पत्ति (भूमि को छोड़कर) का वह भाग है जो अधिक धनोत्पादन में सहायक होता है।"

प्रो० मार्शल (Prof. Marshall) के मतानुसार—"मनुष्य द्वारा

उत्पन्न उस सम्पत्ति को पूंजी कहते हैं जो अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करने में काम आती है।"

4. संगठन (Organisation)—संगठन का अर्थ उस विशिष्ट श्रम (Specialised labour) से है जो उत्पादन के उपरोक्त तीनों साधनों (भूमि, श्रम, पूंजी आदि) को उचित मात्रा में एकत्र करता है, उनमें समन्वय स्थापित करता है, उनको उत्पादन क्रिया में नियोजित करता है और निरीक्षण करता है। अतः उत्पादन के साधनों को धनोत्पादन में उचित ढंग से उचित मात्रा में लगाकर इष्टतम उत्पादन प्राप्त करने की एक क्रिया को संगठन, व्यवस्था या प्रबन्ध (Organisation) कहते हैं। एक विद्वान के अनुसार "उत्पत्ति के साधनों को उचित अनुपात में एकत्रित करके उन्हें अधिकतम उत्पत्ति करने के लिये संगठित तथा नियन्त्रित करने को 'संगठन' कहते हैं।

5. उद्यम या साहस (Enterprise)—चाहे छोटे पैमाने (Small Scale) पर उत्पत्ति की जाय या बड़े पैमाने (large Scale) पर उसमें सफलता और असफलता या लाभ और हानि की संभावना रहती है। इस प्रकार प्रत्येक उत्पादन कार्य में कुछ जोखिम (risk) और अनिश्चितता (Uncertainty) होती है। जब तक इस जोखिम को उठाने वाला कोई साधन न हो तब तक उत्पादन कार्य प्रारम्भ होना कठिन है। यह कार्य जो सम्पादित करता है उसे साहस या उद्यम कहते हैं। अतः उद्यम उत्पादन का वह साधन है जो उद्योग तथा व्यवसाय में जोखिम या अनिश्चितता को सहन करता है। दूसरे शब्दों में जोखिम उठाने या अनिश्चितता सहन करने के कार्य को उद्यम कहते हैं।

साधनों का सापेक्षिक महत्त्व

(Relative Importance of the Factors of Production)

उत्पादन के समस्त साधनों में किसी एक साधन को अधिक महत्वपूर्ण कहना कठिन है। उत्पादन के लिये सभी साधन आवश्यक हैं। इस विषय में हम प्रो. पेन्सन (Prof. Penson) के मत से सहमत हैं

जिन्होंने बतलाया है कि "धनोत्पादन का प्रत्येक साधन आवश्यक है किन्तु भिन्न-भिन्न समय में और औद्योगिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न साधनों का अधिक महत्त्व रहा है।" प्राचीन काल में जब मनुष्य की प्रकृति पर निर्भरता अधिक थी तब भूमि का अधिक महत्व था। परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य का प्रकृति पर नियन्त्रण बढ़ता गया त्यों-त्यों भूमि की अपेक्षा श्रम का महत्त्व बढ़ता गया। इसीलिए दस्तकारी अवस्था में श्रम को अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। औद्योगिक क्रांति के पश्चात बड़े बड़े कारखाने स्थापित होने लगे और बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाने लगा। इससे पूंजी का उपयोग बड़ी मात्रा में आवश्यक हो गया। यन्त्रों के आविष्कार के कारण यन्त्रों के रूप में पूंजी श्रम का स्थान लेने लगी और पूंजी का महत्व बढ़ गया। बड़े पैमाने के उत्पादन के कारण आधुनिक उत्पादन प्रणाली बड़ी जटिल हो गई जिसके समुचित संचालन के लिए संगठन या प्रबन्ध की आवश्यकता है इसी प्रकार आधुनिक युग में जोखिम का अंश काफी बढ़ गया है। अतः प्रबन्ध और जोखिम का भी महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पत्ति के लिए सब साधन आवश्यक हैं किन्तु किस साधन का सर्वाधिक महत्व है यह उत्पत्ति के स्वभाव और आर्थिक प्रगति की अवस्था पर निर्भर रहता है।

उत्पादन के साधनों की संख्या

अर्थशास्त्री उत्पादन के साधनों की संख्या के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार धाराएं प्रचलित हैं।

1, **उत्पादन के केवल दो साधन भूमि और श्रम हैं** —कुछ अर्थ-शास्त्रियों के अनुसार उत्पादन के केवल दो साधन भूमि और श्रम ही हैं। क्योंकि इनके बिना उत्पादन कदापि नहीं हो सकता है। इनका विचार है कि पूंजी, संगठन और उद्यम का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पूंजी श्रम और भूमि के पारस्परिक सहयोग द्वारा उत्पन्न होती है। यह श्रम और भूमि के सम्मिलित प्रयासों द्वारा भूतकाल में उत्पादित

घन का बचा हुआ भाग है। इसी प्रकार संगठन, उद्यमकर्ता भी श्रम के केवल विशिष्ट रूप ही हैं। अतः इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन के केवल दो साधन भूमि और श्रम ही हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे. एस. मिल (Prof J. S. Mill) के अनुसार "उत्पादन के प्राथमिक और सर्व मान्य साधन भूमि और श्रम हैं।"

2. उत्पादन के पांच साधन हैं—आज बड़े पैमाने का युग है और बिना पूंजी के बड़े-बड़े उद्योगों को नहीं चलाया जा सकता है। इसलिये पूंजी को स्वतन्त्र उत्पादन का साधन मानना आवश्यक है। इसी प्रकार आधुनिक उत्पादन प्रणाली में संगठन का बहुत महत्त्व है। वह उत्पादन के अन्य साधनों को एकत्रित करता है उनके समन्वय और नियन्त्रण के द्वारा उद्योगों को सुचारू रूप से संचालित करता है। अतः संगठन को भी एक स्वतन्त्र और पृथक साधन मानना जरूरी है। आज उत्पादन भविष्य की अनुमानित मांग के अनुसार किया जाता है। परिणाम स्वरूप उत्पादन में जोखिम रहती है। जब तक जोखिम उठाने के लिए कोई तैयार नहीं होता तब तक उत्पादन प्रारम्भ नहीं किया जा सकता है। आज विकसित देशों के उन्नत होने के कारणों में एक कारण वहां योग्य उद्यमकर्ताओं का पर्याप्त मात्रा में होना है। अतः उद्यम को भी उत्पादन का एक स्वतन्त्र और पृथक साधन मानना उचित है। इस प्रकार अधिकांश अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन के पांच साधन—भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन और उद्यम हैं।

3. उत्पादन के अनगिनत साधन हैं—प्रो० बेन्हम का मत है कि उत्पादन के साधन पांच नहीं अनगिनत हैं। जो भी सेवा या वस्तु उत्पादन में सहायता दे वही साधन है। सभी भूमि समान नहीं होती है। कोई भूमि अधिक उपजाऊ (Fertile) और कोई कम उपजाऊ होती है। कुछ भूमि के टुकड़े स्थिति (situation) के दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त होते हैं और कुछ कम उपयुक्त। प्रो० बेन्हम के अनुसार—सभी प्रकार की भूमियों को एक शीर्षक के अन्दर नहीं रखा जा, इसलिये विभिन्न प्रकार की भूमियों को अलग-अलग उत्पादन के

मानना चाहिए। इसी प्रकार श्रम, पूंजी, संगठन तथा उद्यम की कई किस्में होती हैं जिनकी कुशलता भिन्न-भिन्न होती है। इनमें से प्रत्येक की प्रत्येक किस्म को एक पृथक और स्वतन्त्र उपादान मानना चाहिए।

4. विशिष्ट (Specific) और अविशिष्ट (Non-Specific) साधन—आस्ट्रियन अर्थशास्त्री श्री वीजर के अनुसार उत्पादन साधनों को दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम विशिष्ट (Specific) और दूसरे अविशिष्ट (Non-specific) साधन—विशिष्ट साधन वे होते हैं जो एक समय में केवल एक ही कार्य में प्रयोग किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें एक समयावधि में एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में हस्तांतरित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार से अगतिशील (immobile) होते हैं। उदाहरण के लिए, रेल का इंजिन केवल एक विशिष्ट कार्य-रेल के डिब्बे खींचने के ही उपयोग में लाया जा सकता है। इसके विपरीत जिन साधनों का उपयोग विभिन्न कार्यों के लिए किया जा सकता है तथा जो गतिशील (Mobile) होते हैं उन्हें अविशिष्ट साधन कहते हैं। उदाहरण के लिए एक बिजली की मोटर का उपयोग कई कार्यों में किया जा सकता है। इससे पानी के पंप, बसें, कारें, चक्कियां, आदि चलाये जा सकते हैं।

5. उत्पादन के साधन श्रम और पूंजी—प्राचीन अर्थशास्त्री उत्पादन के दो साधन भूमि और श्रम मानते थे। एक नवीन दृष्टिकोण के आधार पर उत्पादन के दो आधारभूत साधन श्रम और पूंजी है। भूमि को वे उत्पादन का पृथक साधन नहीं मानते। अर्थशास्त्री वीजर के साधनों के उपरोक्त वर्गीकरण में साधनों की विशिष्टता, जिसे परंपरावादी अर्थशास्त्री सीमितता (Fixity) कहते थे, को ही भूमि (land) या भूमि तत्व (Land element) कहते हैं। एक भूमि के टुकड़े पर यदि केवल गेहूं की फसल उत्पन्न की जाती है तो वह टुकड़ा गेहूं के प्रयोग के लिए विशिष्ट है और भूमि के इस टुकड़े को हम भूमि या भूमि तत्व कहेंगे।

यह विशिष्टता कुछ अंशों में उत्पादनों के अन्य साधनों में भी पाई जाती है। अतः उत्पत्ति के अन्य साधनों में भी भूमि तत्व पाया जाता है किन्तु, साधनों की यह विशिष्टता अल्पकाल में ही रहती है। दीर्घकाल में उत्पत्ति के लगभग सभी साधनों के प्रयोगों को बदला जा सकता है। अतः दीर्घकाल में भूमि नाम का कोई साधन नहीं रहता।

भूमि को पूंजी से यह कह कर पृथक किया जाता है कि भूमि सीमित और प्रकृति का निःशुल्क उपहार है और पूंजी मनुष्य कृत होती है। किन्तु एक व्यक्ति विशेष के लिए तो भूमि भी पूंजी ही होती है क्योंकि वह उसकी सहायता से धन का उत्पादन करता है। साथ ही उसे भूमि का मूल्य भी चुकाना पड़ता है। यदि मूल्य नहीं चुकाना पड़े तब भी उसकी अवसर लागत (Opportunity Cost) तो होती है। अत. फिर कुछ सीमा तक तो भूमि का निर्माण भी किया जा सकता है या मात्रा बढ़ाई जा सकती है। हालैण्ड में समुद्र के पानी को सुखाकर कृषि योग्य भूमि प्राप्त की गई है। बम्बई में भी समुद्र की तरफ बम्बई नगर के क्षेत्रफल में वृद्धि की गई है। प्रो० बेन्हम (Prof. Benham) के अनुसार भूमि को मौलिकता के आधार पर पूंजी से एक अलग साधन मानना उपयुक्त नहीं है। भूमि की कुशलता और उत्पादकता में मानव प्रयत्नों द्वारा वृद्धि सम्भव है। कृषि भूमि की कुशलता में पूंजी के विनियोग द्वारा वृद्धि करना सम्भव है। यदि भूमि को साफ करके उसे कृषि, औद्योगिक या शहरी क्षेत्रों में परिवर्तित कर लिया जाय तो यह भूमि पूंजी कहलायेगी क्योंकि यह मानव प्रयासों का फल है। इसके अतिरिक्त प्रकृति दत्त भूमि के प्राकृतिक रूप और मनुष्य कृत साधनों में भेद करना कठिन होता है। फिर पूंजी का विनियोग करके गहरी खेती आदि के द्वारा भूमि की कमी की पूर्ति की जा सकती है। इसे भूमि की प्रभावपूर्ण पूर्ति में वृद्धि कहते हैं। यही कारण है कि बेन्हम, कार्ल मार्क्स, हिक्स,आदि लेखक भूमि को भी पूंजी में ही शामिल करते हैं।

इस प्रकार कुछ अर्थशास्त्री भूमि को कोई अलग

मानते। इसी प्रकार संगठन और उद्यम एक प्रकार का श्रम ही है जो मानसिक और शारीरिक परिश्रम का मिश्रण है। इसके अलावा नियोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned economy) में जोखिम समाप्त कर दी जाती है। अतः इन अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से उत्पादन के आधार भूत साधन-श्रम और पूंजी दो ही हैं। किन्तु अधिकांश अर्थ-शास्त्री इस मत से सहमत हैं कि उत्पादन के साधन पांच हैं।

सारांश

उत्पादन के साधनों का अर्थ—उत्पादन के साधनों का अर्थ उन वस्तुओं और सेवाओं से है जिनका धन के उत्पादन कार्य में उपयोग किया जाता है।

उत्पादन के साधनः—पांच होते हैं (*i*) भूमि (*ii*) श्रम (*iii*) पूंजी (*iv*) संगठन और (*v*) उद्यम।

उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्व—कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार भूमि और श्रम ही उत्पादन के महत्वपूर्ण एवं अत्याज्य साधन हैं। अन्य साधन गौण हैं। किन्तु आधुनिक बड़े पैमाने के युग में उत्पादन के लिए पांचों साधन ही आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। साधन विशेष का महत्त्व उत्पत्ति के स्वभाव और आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर करता है।

उत्पादन के साधन की संख्या—मिल, आदि अर्थशास्त्री उत्पादन के केवल दो साधन श्रम और भूमि मानते थे। कुछ अर्थशास्त्री भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन, उद्यम—ये पांच साधन मानते हैं। बेन्हम आदि के अनुसार उत्पादन के अनगिनत साधन हैं। कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री भी उत्पादन के साधनों को दो वर्गों श्रम और पूंजी में विभाजित करते हैं।

प्रश्न

1. उत्पादन के क्या-क्या साधन हैं ? स्पष्ट रूप से समझाइये।
   (उ. प्र. बोर्ड, इण्टर *1954*, राज बोर्ड, से. परीक्षा *1965*)

2. प्रकृति के विभिन्न साधनों की व्याख्या कीजिये और वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में उनका सापेक्ष महत्व दिखलाइये।

(राजस्थान, इन्टर आर्ट्स, 1956)

3. उत्पादन का क्या अर्थ है ? इसके मुख्य साधन कौन से हैं ?

(म. प्र. बोर्ड, हा. से., 1965)

आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के दो साधन श्रम और पूंजी को साधन क्यों मानते हैं ? और श्रम और भूमि को क्यों नहीं मानते ?

संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:—

(अ) भूमि की विशेषताएं।

(राज० बोर्ड, हा. से. 1969)

5

श्रम

LABOUR

"श्रम सब वस्तुओं को जीत लेता है।"—होमर

महत्त्व—उत्पादन के साधनों में श्रम का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। 'प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देश का विकास भी योग्य एवं उचित श्रम शक्ति के अभाव में अवरुद्ध रह जाता है। किसी भी प्रकार की उत्पत्ति चाहे वह जंगलों से घास बटोरने की साधारण क्रिया हो चाहे रेल, जहाज, रेडियो निर्माण का जटिल स्वरूप हो श्रम के बिना नहीं हो सकती है। आधुनिक युग में श्रम के स्थान पर यद्यपि यन्त्रों को प्रतिस्थापित किया जाने लगा है किन्तु फिर भी अधिकाधिक यन्त्रों से संचालित कारखानों का परिचालन भी श्रम के बिना नहीं हो सकता। यन्त्र स्वयं ही मानव श्रम द्वारा संचालित किये जाते हैं। यदि किसी देश में उपयुक्त मात्रा में कुशल श्रम शक्ति है तो वह देश सर्वतोमुखी विकास करेगा। श्रम शक्ति किसी देश की सर्वाधिक महत्वपूर्ण निधि होती है। यदि भूमि या पूंजी का उचित उपयोग नहीं होता तो इन

श्रम

दोनों के स्वामियों को थोड़ी आय की हानि हो सकती है। किन्तु यदि श्रम का उचित उपयोग नहीं होता अर्थात् वह बेकार (Unemployed) रहता है या उसका अत्यधिक कार्य कराके शोषण किया जाता है तो समाज हीनता और निर्धनता से ग्रस्त हो जाता है और सामाजिक नैतिक और आर्थिक जीवन के स्तर में ह्रास आ जाता है। श्री कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुसार "श्रम न केवल मूल्य (Value) का माप है अपितु इसका एकमात्र साधन है।" वास्तव में श्रम उत्पादन का अत्याज्य (indispensable) साधन है। श्रम के बिना कोई भी उत्पादन कार्य संभव नहीं है। विश्व के प्रगतिशील देशों की प्रगति का सर्वाधिक श्रेय वहाँ की साहसी, स्वस्थ एवं कुशल श्रम-शक्ति को ही है।

श्रम

शारीरिक मानसिक

श्रम का अर्थ—साधारण बोलचाल की भाषा में श्रम शब्द का अर्थ अकुशल मजदूरों द्वारा किये गये शारीरिक काम से लिया जाता है। किन्तु अर्थशास्त्र में "श्रम" शब्द का प्रयोग एक विस्तृत और विशिष्ट अर्थ में होता है। अर्थशास्त्र में श्रम उस शारीरिक या मानसिक मानवीय प्रयत्न को कहते हैं जिसका उद्देश्य धनोपार्जन होता है। यहाँ श्रम का सम्बन्ध प्रयत्न करने की गहराई या तीव्रता (intensity) से नहीं अपितु उसके उद्देश्य (Motive) से है। चाहे काम अत्यन्त

आसान हो और उसके लिये तनिक सा ही प्रयत्न किया जाय किन्तु यदि यह धन कमाने के उद्देश्य से किया जाता है तो इसे अर्थशास्त्र में 'श्रम' कहते हैं। दूसरी ओर चाहे काम अत्यधिक परिश्रम पूर्ण हो किंतु यदि उसका उद्देश्य धनोपार्जन या आर्थिक लाभ नहीं है तो उसे श्रम नहीं कहेंगे। बच्चे खेल के मैदान में बड़ा परिश्रम करते हैं। माता पिता अपने बच्चों का बड़े प्रेम और परिश्रम से लालन पालन करते हैं। एक देश भक्त देश के लिए अत्यन्त कष्ट उठाता और रात दिन कार्य में जुटा रहता है। किन्तु इन सबके कार्यों को हम श्रम में सम्मिलित नहीं करते हैं क्योंकि ये कार्य धनोत्पत्ति के लिए नहीं अपितु क्रमशः मनोरंजन, पुत्र स्नेह और देशभक्ति के ध्येय से किये गये हैं। इसके विपरीत कृषक अन्न प्राप्त करने के लिए खेतों में काम करता है, अध्यापक वेतन के लिए पढ़ाता है, ग्वाला दूध के लिए पशु पालन करता है। इन सबका कार्य श्रम है क्योंकि ये सब आर्थिक क्रियाएं हैं। और इनका उद्देश्य आर्थिक लाभ प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार का कार्य भी एक समय 'श्रम' हो सकता है और दूसरे समय 'श्रम' नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए एक प्राध्यापक जब वेतन के बदले में कॉलेज में प्रतिदिन व्याख्यान देता है तो उसका यह कार्य श्रम है किंतु यदि किसी कालेज में निमन्त्रण पाकर व्याख्यान देता है तो यह श्रम नहीं है क्योंकि उसके इस कार्य के बदले में उसे कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता है। अतः श्रम का सम्बन्ध धनोपार्जन से है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक कार्य चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक चाहे आसान, सरल या कठिन जिसका उद्देश्य धन कमाना होता है अर्थशास्त्र में 'श्रम' कहलाता है।

प्रो. जेवन्स (Prof. Jevons) के अनुसार श्रम का अभिप्राय "किसी भी मानसिक या शारीरिक परिश्रम से है जो पूर्णतया या अंशतया कार्य से प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष आनन्द के अतिरिक्त किसी लाभ के लिए किया जाता है।"

श्रम की परिभाषा—

प्रो. टामस (Prof. Thomus) ने मार्शल की परिभाषा को और

अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "वे समस्त शारीरिक तथा मानसिक कार्य जो किसी पुरस्कार की आशा से किये जाते हैं श्रम के अन्तर्गत आते हैं।"

प्रो. निकल्सन (Prof. Nicholson)—श्रम का बहुत ही व्यापक अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि "श्रम शब्द में सभी प्रकार की उच्चतम मानसिक और व्यावसायिक योग्यता के साथ ही साथ मजदूरों, श्रमिकों तथा कारीगरों के परिश्रम को भी सम्मिलित करना चाहिये। हमें इसमें न केवल उन व्यक्तियों के परिश्रम को ही सम्मिलित करना चाहिए जो सामान्य रूप से व्यवसाय में लगे हों बल्कि उन व्यक्तियों के परिश्रम को सम्मिलित करना चाहिए जो शिक्षा, ललितकलाओं, साहित्य, विज्ञान, न्याय प्रशासन तथा अनेक प्रकार की राजकीय सेवाओं में लगे हों। हमें न केवल उस परिश्रम को सम्मिलित करना चाहिए जिसके परिणाम स्वरूप कोई स्थायी उत्पादन होता हो वरन् उस श्रम को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए जिसके फलस्वरूप ऐसी सेवाएं प्रदान की जाती हैं जो सम्पन्न होते ही विनष्ट हो जाती हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से हमें 'श्रम' के सम्बन्ध में निम्न तीन बातों से पता चलता है:—

(1) केवल मानवीय प्रयत्न—श्रम के अन्तर्गत केवल मनुष्य के परिश्रम को ही सम्मिलित किया जाता है चाहे वह मनुष्य कुशल (Skilled) हो या अकुशल (Unskilled)। मशीनों तथा पशुओं द्वारा किये गये कार्य 'श्रम' के अन्तर्गत नहीं आते हैं।

(2) शारीरिक और मानसिक दोनों प्रयत्न—सभी प्रकार के मानव परिश्रम को चाहे उसका सम्बन्ध शरीर से हो या मस्तिष्क से श्रम कहा जाता है। लोहे को पीटकर सामान बनाने वाले कार्य के समान ही अध्यापक का पढ़ाना भी और अखबार का सम्पादन भी श्रम है।

(3) धनोपार्जन का उद्देश्य—वही करने या आर्थिक लाभ के उद्देश्य

जो प्रयत्न आर्थिक उद्देश्य से नहीं बल्कि मनोरंजन, कर्त्तव्य पालन, स्वजन-प्रेम, सहानुभूति, दया, आदि के वशीभूत होकर किये जाते हैं वे श्रम नहीं हैं क्योंकि उनके बदले में आर्थिक प्रतिफल नहीं मिलता है। जब आप हॉकी खेलते हैं तो आपका बहुत परिश्रम करना पड़ता है, किन्तु क्योंकि आपका उद्देश्य धनोपार्जन न हो कर सुख और स्वास्थ्य लाभ करना है इसलिए आपकी यह क्रिया श्रम नहीं है। किन्तु शारीरिक व्यायाम शिक्षक का कार्य जो आपको खेल सिखाने के लिए खेलता है और इस प्रकार जीविकोपार्जन करता है 'श्रम' कहलायेगा।

हमारी उपरोक्त परिभाषा के आधार पर संगठन और उद्यम को भी श्रम में ही सम्मिलित किया जा सकता है क्योंकि ये भी मानसिक और शारीरिक कार्य हैं जिनका उद्देश्य धन कमाना होता है। किन्तु संगठन और उद्यम विशेष प्रकार की क्रियायें हैं अतः इनका अपना निजी महत्व है और ये उत्पत्ति के पृथक साधन माने जाते हैं। श्रम के विषय में एक बात और ध्यान रखने की यह है कि वास्तव में श्रम का उद्देश्य उत्पत्ति होना चाहिए चाहे हमारा यह उद्देश्य सफल हो या निष्फल।

श्रम का वर्गीकरण
(Classification of Labour)

श्रम को निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम (Productive and unproductive labour)—प्रकृतिवादी अर्थ शास्त्रियों के अनुसार केवल किसान का श्रम ही उत्पादक था। एडम स्मिथ ने उन सभी प्रकार के प्रयत्नों को जिनसे भौतिक पदार्थों का निर्माण होता था उत्पादक श्रम माना। इस प्रकार उनके अनुसार जुलाहे का श्रम उत्पादक है किन्तु अध्यापक का श्रम अनुत्पादक है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री उक्त मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार तो अध्यापक का श्रम और अन्य प्रकार की सेवाएं भी उत्पादक श्रम ही है। आजकल जिस उद्देश्य के लिए श्रम किया जाता है यदि उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है तो वह उत्पादक श्रम कहलाता है और उद्देश्य

श्रम का वर्गीकरण
1. उत्पादक और अनुत्पादक
2. मानसिक और शारीरिक
3. कुशल और अकुशल

की पूर्ति नही होती तो वह अनुत्पादक श्रम कहलाता है। दूसरे शब्दों में उत्पादन श्रम वह होता है जो तुष्टिगुण या मूल्य का सृजन करने में सफल हो। जो श्रम तुष्टिगुण उत्पन्न नहीं कर पाता वह अनुत्पादक

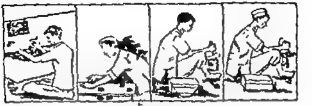

श्रम विभाजन

श्रम कहलाता है। किसी लेखक की पुस्तक प्रकाशित हो जाने पर उसे कुछ आय प्राप्त हो तो उसका श्रम उत्पादक है किंतु यदि पुस्तक प्रकाशित नही हो सके तो यह तो श्रम अनुत्पादक होगा।

2. मानसिक और शारीरिक श्रम (Mental and Physical Labour)—पूर्णतः मानसिक श्रम और पूर्णतः शारीरिक श्रम के उदाहरण कम मिलते हैं। अतः जिस श्रम में शारीरिक शक्ति की प्रधानता हो उसे शारीरिक श्रम और जिस कार्य में मानसिक शक्ति अधिक प्रयुक्त हो उसे मानसिक श्रम कहते हैं। अध्यापक, वकील, डाक्टर, संपादक, मंत्री, आदि का मानसिक श्रम है जबकि कुली, घरेलू नौकर, कृषक, मजदूर आदि का श्रम शारीरिक श्रम है।

3. कुशल और अकुशल श्रम (Skilled and Unskilled Labour) कुशल श्रम वह श्रम है जिसे करने के लिए विशेष प्रशिक्षण (Training) शिक्षा, ज्ञान व अनुभव की आवश्यकता होती है और जिन्हें साधारणतया हर कोई नहीं कर सकता है। इंजिनियर, डाक्टर, प्राध्यापक, मशीन चालक, ड्राइवर आदि का कार्य कुशल श्रम है। अकुशल श्रम वह श्रम है जिसे करने के लिए विशेष योग्यता, प्रशिक्षण और ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। कुली, चौकीदार आदि अकुशल श्रम के उदाहरण हैं।

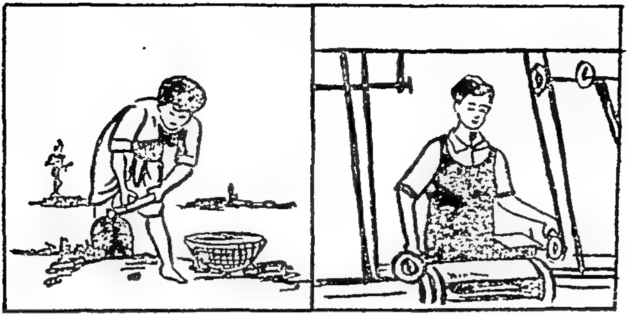

अकुशल श्रम कुशल श्रम

श्रम की विशेषताएं
Characterstics of Labour

उत्पादन के साधन के रूप में श्रम में कुछ मौलिक एवं स्वाभाविक विशेषताएं हैं जिनके कारण वह उत्पादन के अन्य साधनों से भिन्न माना जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि श्रमिक एक चेतन प्राणी है। श्रम तुष्टि गुण का सृजन अपने लिए ही करता है अतः वह उत्पादन का साध्य और साधन दोनों ही है। श्रम की ये प्रमुख विशेषताएं अधोलिखित है—

(1) श्रम एक सक्रिय (Active) एवं अनिवार्य (Essential) साधन है—श्रम उत्पादन का एक सक्रिय साधन है जबकि भूमि तथा पूंजी निष्क्रिय साधन हैं। श्रम के बिना भूमि तथा पूंजी से कुछ भी उत्पादन नहीं किया जा सकता। श्रम ही भूमि और पूंजी पर कार्य करके कुछ उत्पादन करता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार तो उत्पादन और मूल्य का एकमात्र कारण श्रम ही है।

(2) श्रम नाशवान (Perishable) है—श्रम श्रमिकों की एक विनिमय साध्य वस्तु है। परन्तु यदि किसी समय उसका विनिमय नहीं किया गया तो अन्य वस्तुओं की तरह उसका संचय सम्भव नहीं है। इसका अर्थ यह है कि यदि वह किसी दिन कार्य नहीं करता है तो उस

दिन का श्रम सदैव के लिए नष्ट हो जाता है। समय के व्यतीत होने के साथ श्रमिक का अप्रयुक्त श्रम भी समाप्त या विनष्ट हो जाता है। यही कारण है कि श्रमिक उसे बेकार नष्ट होने की अपेक्षा किसी भी कीमत पर बेचने को तैयार हो जाता है।

(3) श्रम और श्रमिक एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते हैं— जब कोई श्रमिक अपने श्रम को बेचता है तो वह अपने आपको श्रम से पृथक नहीं कर सकता है। श्रम और श्रमिक अभिन्न (Inseperable) हैं अतः श्रम प्रदान करने के स्थान पर श्रमिकों को स्वयं उपस्थित रहना और काम करना पड़ता है। पूंजी को पूंजीपति से और भूमि को भूमिपति से अलग कर के स्वयं इनको या इनके उपयोग को बेचा जा सकता है, किन्तु श्रम का अपने स्वामी से पृथक कोई अस्तित्व ही नहीं है। यही कारण है कि श्रमिक अपने श्रम को बेचते समय कई बातों को ध्यान में रखता है जैसे कार्य की प्रकृति, मालिक का स्वभाव, कार्य करने की जगह का वातावरण, भावी उन्नति की आशा, आदि।

श्रम की विशेषतायें

1. एक सक्रिय और अनिवार्य साधन
2. नाशवान
3. श्रम और श्रमिक की अपृथकता
4. सौदा करने की शक्ति दुर्बल
5. पूर्ति मंद गति से परिवर्तित
6. गतिशील साधन
7. श्रमिक अपना श्रम बेचता है किन्तु अपना स्वामी बना रहता है।
8. श्रम साधन और साध्य दोनों है
9. श्रम में पूंजी का विनियोग संभव
10. श्रमिकों की कार्य कुशलता में अंतर
11. श्रम की श्रेष्ठता श्रमिकों के माता-पिता के साधनों पर निर्भर
12. श्रम का प्रतिफल श्रमिकों की पूर्ति को सामान्य तरीके से प्रभावित नहीं करता।
13. श्रम बुद्धि तथा उपयोग करता

(4) श्रम की सौदा करने की शक्ति दुर्बल होती

है (Weak bargaining power)—श्रम शीघ्र नाशवान है । अतः श्रमिक अपने श्रम को शीघ्र वेचने की कोशिश करता है । इसके अतिरिक्त श्रमिक संख्या में ज्यादा तथा अशिक्षित होते हैं और उनकी आर्थिक स्थिति मालिकों की अपेक्षा बहुत कमजोर होती है । परिणाम स्वरूप उनकी मोल भाव करने की शक्ति कम होती है । उन्हें मालिक जो भी मजदूरी देता है उस पर कार्य करना होता है । किन्तु आजकल श्रमिक संगठनों के कारण श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति में भी पर्याप्त वृद्धि हो गई है ।

(5) श्रम की पूर्ति मंद गति से परिवर्तित होती है—श्रमिकों की पूर्ति देश की जन्म और मृत्यु दर पर निर्भर करती है । श्रमिकों की पूर्ति को शीघ्रता से अधिक नहीं किया जा सकता क्योंकि यह नये बच्चों की जन्मदर और उनके पोषण और प्रशिक्षण आदि पर निर्भर करती है । इसी प्रकार श्रमिकों की पूर्ति को शीघ्रता से कम नहीं किया जा सकता क्योंकि जन्मदर और उसके प्रभाव को शीघ्र ही कम नहीं किया जा सकता और न मृत्युदर को बढ़ाया जा सकता है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि श्रम की पूर्ति का उसकी मांग के साथ शीघ्रता से समायोजन (Adjustment) नहीं किया जा सकता है ।

(6) श्रम गतिशील (Mobile) होता है—श्रम भूमि की अपेक्षा अधिक गतिशील होता है । वह एक स्थान, कारखाना और व्यवस्था को छोड़कर दूसरे स्थान, कारखाना और व्यवसाय में सरलता से चला जाता है । भूमि में स्थान परिवर्तन तो बिलकुल संभव नहीं है । इतना होते हुए भी श्रम में पूंजी की अपेक्षा कम गतिशीलता पाई जाती है ।

(7) श्रमिक अपना श्रम बेचता है परन्तु अपना स्वामी बना रहता है—जैसा कि मार्शल ने कहा है, श्रमिक अपने श्रम को बेचता है अपने आपको नहीं । अपने शरीर, योग्यता, कुशलता आदि पर श्रमिक का अपना अधिकार होता है । उदाहरण के लिए जब डाक्टर रोगियों

की चिकित्सा करता है तो वह अपनी चिकित्सा संबंधी सेवा बेचता है किन्तु अपनी चिकित्सा कला और स्वयं का वह स्वामी बना रहता है।

(8) श्रम साधन और साध्य दोनों ही हैं—श्रम की सहायता से उत्पादन किया जाता है इस दृष्टि से श्रम एक साधन है। किन्तु इस उत्पादन का उद्देश्य भी श्रमिकों की आवश्यकता की पूर्ति करना ही है। इस दृष्टि से श्रम एक साध्य है। इस प्रकार जबकि पूंजी और भूमि केवल उत्पादक हैं, श्रम, उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही है।

(9) श्रम में पूंजी का विनियोग (Investment) संभव है—श्रम को अधिक योग्य तथा कुशल बनाने के लिए, उनके अच्छे स्वास्थ्य के लिए पोषण, शिक्षा, प्रशिक्षण और अनुभव इत्यादि में पर्याप्त पूंजी का विनियोग किया जाता है। कुशल, शिक्षित और योग्य श्रमिकों द्वारा अधिक उत्पादन किया जाता है। जिन्हें प्राप्त करने के लिए श्रम में पूंजी लगानी पड़ती है। इसी कारण श्रम को मानवीय पूंजी (Human Capital) कहा जाता है।

(10) श्रमिकों की कार्य कुशलता (Efficiency) में अन्तर होता है—प्रत्येक श्रमिक में स्वास्थ्य, गुण, साहस, योग्यता, रुचि, चरित्र, स्वभाव, दर्शन (Philosophy) से सम्बन्धित भिन्नता होती है। इस कारण सब श्रमिक समान रूप से कार्यकुशल नहीं होते हैं। वे मशीनों और पुर्जों की तरह एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न (Substitutes) नहीं हो सकते।

(11) श्रम की श्रेष्ठता (quality) श्रमिकों के माता पिता के साधनों पर निर्भर करती है—वंश परम्परा और वातावरण का श्रमिकों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि किसी श्रमिक के माता पिता स्वस्थ कुशल, चरित्रवान, धनवान योग्य तथा दूरदर्शी होते हैं तो श्रमिक भी गुणात्मक दृष्टि से अन्य श्रमिकों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होंगे। इसके विपरीत दशाओं में विपरीत परिणाम होंगे।

(12) श्रम का प्रतिफल श्रम की पूर्ति को प्रभावित नहीं करता है ...

वृद्धि उनकी पूर्ति में भी वृद्धि करती है परन्तु श्रम के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता है। एक सीमा के बाद श्रमिकों की मजदूरी बढ़ने पर श्रम की पूर्ति कम हो जाती है क्योंकि ऐसी दशा में बहुत से श्रमिक अधिक आराम प्राप्त करने के लिये कम घंटे या कम दिन काम करना पसंद करेंगे। इसके अतिरिक्त मजदूरी कम होने पर श्रम की पूर्ति में वृद्धि हो सकती है क्योंकि श्रमिक अधिकाधिक कार्य करके या परिवार के अन्य सदस्यों को काम पर लगा कर आय बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं।

(13) **श्रम बुद्धि तथा निर्णय शक्ति का प्रयोग करता है**—श्रमिक मनुष्य होते हैं, अतः उनमें बुद्धि तथा तर्क और निर्णय शक्ति होती है। वे किसी भी उत्पादन कार्य में इनका उपयोग करते हैं। इसलिए प्रो. केअरन क्रोस के अनुसार श्रम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता बुद्धि तथा निर्णय शक्ति का प्रयोग है क्योंकि इसके आधार पर इसको अन्य उत्पादन के साधनों से पृथक किया जा सकता है।

श्रम की उपरोक्त विशेषताओं में थोड़ी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। वास्तव में इनमें से कई विशेषताएं कुछ अंशों में उत्पादन के अन्य साधनों में भी न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती है। फिर भी अभिन्नता और नाशवानता, आदि ऐसी विशेषताएं हैं जो भूमि पूंजी आदि में नहीं देखी जाती है।

कार्यशील जनसंख्या (Working Population)—धनोत्पादन की दृष्टि से मानवकृत प्रयत्नों को श्रम कहते हैं। उत्पादन में श्रम करने वाले लोगों को श्रमिक और देश के सब श्रमिकों को श्रमिक शक्ति (labour force) कहते हैं। किसी देश की श्रम शक्ति उस देश की जन संख्या पर निर्भर करती है। किन्तु देश की समस्त जनसंख्या उत्पादन में भाग नहीं लेती। अतः सारी जनसंख्या श्रमिक नहीं होती। उन व्यक्तियों की संख्या, जो श्रम करते हैं, कार्य करते हैं और जीविकोपार्जन करते हैं सदैव कुल जन संख्या (Population) से कम होती है। इस अन्तर का कारण ऐच्छिक या अनैच्छिक सुस्ती (idleness) लगभग नहीं है। मुख्य कारण आयु (Age) एवं लिंग (Sex) है।

कुछ कम आयु के बच्चे होते हैं जो कार्य करने के योग्य नहीं होते या शिक्षा प्राप्त करते हैं। कुछ अधिक आयु के वृद्ध लोग होते हैं जो कार्य करने और जीविकोपार्जन के अयोग्य होते हैं। अतः यह मध्यम आयु वर्ग (Middle Age group) लगभग 15 वर्ष से 64 वर्ष होता है जिसके व्यक्ति बहुधा जीविकोपार्जन करते हैं। इनमें भी कई देशों में अधिकांश महिलाएं अपना समय जीविकोपार्जन के अतिरिक्त कार्यों में व्यतीत करना पसंद करती हैं।

अतः देश की जनसंख्या का वह भाग जो आर्थिक दृष्टि से सक्रिय (Economically active) होता है कार्यशील जन संख्या कहलाता है। देश के निवासियों में जो व्यक्ति श्रम करने के योग्य और तत्पर होते हैं जो जीविकोपार्जन करते हैं या करने के योग्य तत्पर होते हैं उन्हें देश की कार्य शील जनसंख्या में सम्मिलित करते हैं। यही देश की श्रम शक्ति (Labour force) होती है।

कार्यशील जनसंख्या का देश की कुल जनसंख्या में भाग भिन्न-भिन्न देशों और एक ही देश में विभिन्न समय पर भिन्न-भिन्न होता है। अधिकांश देशों में यह अनुपात 32% से 45% होता है। विकसित देशों में अधिक अनुपात में और कम विकसित देशों में कम अनुपात में जनसंख्या कार्यशील होती है। आर्थिक विकास के साथ-साथ जनसंख्या में सक्रिय जनसंख्या (Active Population) का भाग बढ़ता जाता है। निम्न तालिका में भारत की कार्यशील जनसंख्या और उसका कुल जनसंख्या से अनुपात प्रदर्शित किया गया है:—

	1951		1961	
	लाख में	प्रतिशत	लाख में	प्रतिशत
कार्य-शील	1395.2	39·10%	2498.9	42.98%
अकार्य-शील	2173.6	60·90%	1884.2	57.02%
कुल जनसंख्या	5568.8	100%	4383.1	

(Source : Census of India-Paper No. 1 of 1962 Final Population Totals.)

कार्यशील जनसंख्या में अन्तर के कारण—कुल जनसंख्या में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात विभिन्न देशों और समयों में भिन्न-भिन्न होता है । इस अन्तर के कारण निम्न हैं:—

1. कार्यशील आयु (Working Age)—कार्यशील आयु का कार्यशील जनसंख्या के अनुपात पर प्रभाव पड़ता है। आज की जनसंख्या में वृद्धि के कारण श्रम शक्ति में वृद्धि लगभग पन्द्रह वर्ष पश्चात् होगी जब कि जो व्यक्ति आज उत्पन्न हुए हैं वे कार्यशील आयु को पहुँचेंगे ।

कार्यशील जनसंख्या में अन्तर के कारण
1. कार्यशील आयु
2. मृत्युदर
3. आयु संरचना
4. दीर्घ जीविता
5. कार्य के प्रति दृष्टिकोण

2. मृत्युदर—पन्द्रह वर्ष के पश्चात् भी कार्यशील जनसंख्या में वृद्धि उतनी नहीं होगी जितनी संख्या में वृद्धि हुई है क्योंकि इनमें से कुछ कार्यशील आयु तक पहुँचने के पूर्व ही मृत्यु के ग्रास बन जायेंगे । अतः इस आयु का मृत्युदर भी कार्यशील जनसंख्या को प्रभावित करती है ।

3. आयु संरचना (Age Composition)—जनसंख्या की आयु संरचना भी कार्यशील जन संख्या को प्रभावित करता है । 15-64 वर्ष के वर्ग को कार्यशील आयु मानते हुए हम कह सकते हैं कि जिस देश की जनसंख्या का अधिक अनुपात इस वर्ग में सम्मिलित होगा अन्य बातें समान रहने पर उस देश की कार्यशील जनसंख्या और उसका अनुपात भी अधिक होगा ।

4. दीर्घ जीविता (Longevity) यह भी कार्य शील जनसंख्या को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण घटक है । जिस देश की औसत

आयु कम है उदाहरणार्थ 35 वर्ष है वहाँ प्रभाव पूर्ण कार्य शील आयु (Effective working age) भी कम लगभग 20 वर्ष होगी। इसके विपरीत जहाँ औसत आयु अधिक उदाहरणार्थ 60 वर्ष होगी तो प्रभाव पूर्ण कार्यशील आयु अधिक लगभग 40 वर्ष होगी। अतः दीर्घजीवी राष्ट्रों में कार्यशील जनसंख्या का प्रतिशत अधिक रहता है।

5. कार्य के प्रति दृष्टिकोण (Attitude towards the work) जनसंख्या का विशेष रूप से महिलाओं का घर से बाहर कार्य के प्रति दृष्टिकोण का भी कार्यशील जनसंख्या पर प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त विश्राम लेने (retirement) और विवाह के समय की आयु भी देश की श्रम शक्ति को प्रभावित करती है।

श्रम की मांग
Demand of labour

श्रम उत्पादन का एक सक्रिय और अनिवार्य साधन है। अतः प्रत्येक उत्पादन कार्य में श्रम की आवश्यकता होती है। श्रम की मांग उत्पादक या मालिक करते हैं और जब तक उन्हें श्रम के उपयोग से होने वाला लाभ या सीमांत उत्पत्ति उसकी मजदूरी से अधिक होती है तब तक वह श्रमिकों की मांग करते रहते हैं और उनको नियुक्त करते रहते हैं। श्रम की मांग का आशय व्यक्तिगत उत्पादक इकाई द्वारा भिन्न-भिन्न मजदूरी पर श्रम विशेष की मांगी गई मात्रा से है। समस्त उत्पादक इकाइयों की श्रम की मांग का योग श्रमिकों की कुल मांग के रूप में प्रकट होता है। श्रम की मांग कई महत्वपूर्ण तत्वों पर निर्भर करती है जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं।

(1) उत्पादन की मात्रा—जिस देश में जितना अधिक उत्पादन किया जायेगा उस देश में श्रमिकों की मांग भी उतनी ही अधिक होगी श्रम की मांग व्युत्पादित मांग (Derived Demand)

उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की मांग से व्युत्पन्न श्रम की मांग की जाती है। अतः श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की मांग उपभोक्ताओं द्वारा जितनी अधिक की जावेगी उतनी ही अधिक श्रम के लिये उत्पादकों की मांग होगी।

(2) उत्पत्ति की टेक्नीकल दशायें—जिन देशों में वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान की उन्नति अधिक होती है वहाँ उत्पादन में मशीनों का अधिकाधिक उपयोग किया जाता है और श्रम की मांग कम होती है।

3) सभ्यता और आर्थिक विकास का स्तर—सभ्यता और आर्थिक विकास के साथ साथ समाज की आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं और आर्थिक क्रियाओं का विकास होता जाता है। परिणाम स्वरूप श्रम की मांग अधिक होती है।

(4) अन्य साधनों की कीमतें और उनके साथ श्रम के प्रतिस्थापन की संभावना—श्रम की मांग पर अन्य साधनों की कीमतों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि अन्य साधनों की तुलना में श्रम सस्ता हो और उनके स्थान पर श्रम की प्रतिस्थापना की जा सके तो उत्पादन में इसका अधिक उपयोग किया जावेगा और उसकी मांग अधिक होगी।

श्रम की मांग को प्रभावित करने वाली बातें

1. उत्पादन की मात्रा
2. उत्पत्ति की टेक्नीकल दशायें
3. सभ्यता और आर्थिक विकास का सार
4. अन्य साधनों की कीमतें और उनके साथ श्रम के प्रतिस्थापना की सम्भावना

श्रम की पूर्ति (Supply of labour)—श्रम की पूर्ति का आशय श्रम के कार्यशाल दिनों या घन्टों से है जिन्हें विभिन्न मजदूरी की दरों पर प्रस्तुत किया जावेगा पूर्ति के नियम के अनुसार अन्य वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने पर उनकी पूर्ति बढ़ जाती है। यद्यपि श्रम

की पूर्ति पर भी उसकी कीमत अर्थात् मजदूरी की निसन्देह प्रभाव पड़ता है किन्तु अन्य अनेक आर्थिक और अनार्थिक कारण जैसे जनसंख्या और उसकी वृद्धि दर, आयु संरचना, सफाई, बालकों की देखरेख, दुर्घटनाओं की रोक (Accident prevention), परिवार नियोजन, विवाह और बड़े परिवारों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण, आवास प्रवास, आय बढ़ाने की इच्छा, आदि श्रम की पूर्ति को प्रभावित करते हैं। मोटे रूप से श्रमिकों की पूर्ति में हम निम्न बातों को सम्मिलित करते हैं—

(1) श्रमिकों की संख्या—श्रमिकों की पूर्ति श्रमिकों की संख्या पर निर्भर करती है जो स्वयं निम्न बातों से प्रभावित होते हैं।

(अ) कुल जनसंख्या—श्रमिकों की संख्या जनसंख्या के आकार पर निर्भर करती है और जनसंख्या भी जन्मदर और मृत्यु दर पर अवलंबित है। यदि जन्मदर मृत्युदर से अधिक है तो यह अन्तर देश की श्रम शक्ति में वृद्धि करेगा। एक देश में जन्मदर बहुत अधिक सीमा तक देश के जलवायु, सामाजिक परम्परायें, विवाह संबंधी दृष्टिकोण और जीवन स्तर (Standard of living) पर निर्भर करती है। भारत में यह सब कारण जन्मदर की अधिकता और परिणाम स्वरूप जनसंख्या वृद्धि में सहायक रहे हैं। मृत्युदर भी जनसंख्या का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों में जहाँ स्वस्थ तन मन और मस्तिष्क के लिए सुविधाओं का अभाव होता है मृत्युदर अधिक होती है।

(ब) कार्यशील जनसंख्या का अनुपात—यह भी श्रम की पूर्ति को प्रभावित करता है। जिस देश में कुल जनसंख्या में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात अधिक होता है उस देश में श्रम की पूर्ति अधिक होती है।

(स) आवास प्रवास—आवास-प्रवास पर
निर्भर रहती है। दूसरे देशों से आकर

(immigration) से श्रम की पूर्ति बढ़ती है और किसी देश को छोड़कर श्रमिकों के चले जाने (Migration) से श्रम की पूर्ति कम होती है।

2. श्रमिकों की कार्य कुशलता—केवल किसी देश की श्रमिकों की संख्या ही किसी देश की श्रम शक्ति का निर्णयक तत्व नहीं है। इसके लिए श्रमिकों की कार्य कुशलता या उत्पादकता भी महत्वपूर्ण है। श्रमिकों की समान संख्या वाले दो देशों में जिस देश के श्रमिक अधिक कार्य-कुशल, परिश्रमी और अनुभवी होंगे उस देश की श्रम की पूर्ति अधिक होगी।

3. कार्य करने के घन्टों की संख्या—एक और तत्व जो अधिक रूप से श्रम की पूर्ति को प्रभावित करता है वह कार्यशील घन्टों की कुल संख्या है। सामान्य रूप से यदि श्रमिक लम्बे समय तक काम कर सकता है तथा इससे यदि उसकी कुशलता पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है तो इसका परिणाम कम कार्यशील घन्टों की अपेक्षा अधिक उत्पादन होता है। किन्तु इसकी भी एक सीमा होती है और उसके पश्चात् अधिक घन्टों तक कार्य करना दीर्घ काल में राष्ट्रीय उत्पादकता की कमी का कारण होता है।

> **श्रम की पूर्ति निर्भर है**
> 1. श्रमिकों की संख्या
>   (अ) कुल जन संख्या
>   (ब) कार्यशील जन संख्या का अनुपात
>   (स) आवास प्रवास।
> 2. उनकी कार्य कुशलता
> 3. कार्य करने के घन्टे

सारांश

श्रम का महत्व—उत्पादनों के समस्त साधनों में श्रम का बहुत महत्व है। उत्पत्ति का अनिवार्य एवं अत्याज्य साधन है। आधुनिक यन्त्रचालित कारखानों में भी यन्त्रों को चलाने के लिए श्रम की आवश्यकता होती है। श्रम शक्ति किसी देश की सर्वाधिक महत्वपूर्ण निधी होती है।

श्रम का अर्थ—अर्थ शास्त्र में 'श्रम' उस शारीरिक और मानसिक प्रयत्न को कहते हैं जिसका उद्देश्य धनोपार्जन होता है। प्रो. टामस के अनुसार "वे समस्त मानसिक और शारीरिक कार्य जो किसी पुरस्कार की आशा से किये जाते हैं श्रम के अन्तर्गत आते हैं।"

श्रम का वर्गीकरण—(1) उत्पादक और अनुत्पादक श्रम (2) मानसिक और शारीरिक श्रम (3) कुशल और अकुशल श्रम।

श्रम की विशेषतायें—(1) सक्रिय और अनिवार्य साधन (2) नाशवान (3) श्रम और श्रमिक अभिन्नता (4) सौदा करने की शक्ति दुर्बल (5) पूर्ति मंद गति से परिवर्तित (6) गतिशील साधन (7) श्रमिक अपना श्रम बेचता है किन्तु अपना स्वामी बना रहता है। (8) श्रम साधन और साध्य दोनों (9) श्रम में पूंजी का विनियोग सम्भव (10) श्रमिकों की कार्य कुशलता में अन्तर (11) श्रम की श्रेष्ठता श्रमिकों के माता पिता के साधनों पर निर्भर (12) श्रम का प्रतिफल श्रमिकों की पूर्ति सामान्य तरीके से प्रभावित नहीं करता है (13) श्रम बुद्धि और निर्णय शक्ति का उपयोग करता है।

कार्यशील जन संख्या—देश की जन संख्या का वह भाग जो आर्थिक दृष्टि से सक्रिय होता है अर्थात् देश के निवासियों में जो व्यक्ति श्रम करने के योग्य और तत्पर होते हैं कार्यशील जनसंख्या कहलाते हैं।

कार्यशील जनसंख्या में अन्तर—कार्यशील जनसंख्या का देश की जनसंख्या में अनुपात भिन्न भिन्न देशों और समयों में भिन्न भिन्न होता है जिनके कारण हैं:—(1) कार्यशीलआयु (2) मृत्यु दर (3) आयु संरचना, (4) दीर्घजीविता (5) कार्य के प्रति दृष्टिकोण।

श्रम की मांग:—श्रम की मांग का आशय किसी समय पर किसी मजदूरी पर श्रमिकों की मांगी गई मात्रा से है। यह निम्न निर्भर करती है:—

(1) उत्पादन की मात्रा (2) उत्पत्ति की टेक्नीकल दशायें (3) सभ्यता और आर्थिक विकास का स्तर (4) अन्य साधनों की कीमतें और उनके साथ श्रम के प्रतिस्थापन की सम्भावना ।

श्रम पूर्तिः—श्रम की पूर्ति का अशाय श्रम के कार्यशील दिनों या घण्टों से है जिन्हें विभिन्न मजदूरी की दरों पर प्रस्तुत किया जावेगा । यह निम्न बातों पर निर्भर करती है ।

(1) श्रमिकों की संख्या (2) श्रमिकों की कार्यकुशलता (3) कार्य करने के घन्टों की संख्या ।

प्रश्न

1. श्रम की परिभाषा दीजिये और उत्पादन के साधन के रूप में उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिये ।

(म. प्र. बोर्ड. हा. से., 1961)

2. श्रम की उपयुक्त परिभाषा दीजिये । क्या निम्नलिखित कार्य श्रम में सम्मिलित किये जा सकते हैं ?

(क) क्रिकेट मैच का खेल (ख) कालेज पत्रिका में छापने के लिए कविता लिखना (ग) किसी अधिवेशन में भाग लेने के लिए यात्रा करना (म. प्र. हा. से; वाणिज्य, 1962)

3. 'श्रम' शब्द की व्याख्या कीजिये । कारण देकर बतलाये कि क्या निम्नलिखित क्रियायें श्रम की परिभाषा में आती है ?

(क) एक अध्यापक का छुट्टी के दिन अपने बाग में काम करना
(ख) कारखाने के व्यावस्थापक का काम
(ग) एक गायक के गीत को प्रसारित करना

(म. प्र. हा. से.,1962)

4. श्रम की परिभाषा कीजिये । पांच ऐसे कार्यों के नाम बतलाइये जो अर्थशास्त्र की दृष्टि से श्रम की श्रेणी में नहीं आते । कारण दीजिये ।

(मध्य प्रदेश, हा. से., 1964)

5. टिप्पणियाँ लिखिये:—(अ) उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम (राज० बो०, हा० से०,1969)
(ब) निपुण तथाअनिपुण श्रम (स) शारीरिक और मानसिक श्रम। (राज० बोर्ड०, हा० से०, 1964)

6. निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत। एक एक वाक्य में उत्तर दीजिये। (राज० बोर्ड०, हा० से०, 1962, 63, 64, 65, 66)
(i) कारखाने के मैनेजर का काम श्रम नहीं है। (ii) यदि एक मकान बनाते ही गिर पड़े तो उसमें लगा हुआ श्रम अनुत्पादक है। (iii) क्रिकेट का मैच खेलना 'अनुत्पादक श्रम' है। (iv) अध्यापक का काम श्रम नहीं है। (v) एक झोंपड़ी में बनाते ही आग लग जाय तो उसमें लगा हुआ श्रम 'अनुत्पादक श्रम' है। (vi) अध्यापक, वकील, डाक्टर सब अनुत्पादक हैं क्योंकि ये कुछ नहीं बनाते।

7. कार्यशील जनसंख्या किसे कहते हैं? विभिन्न देशों में कार्यशील जनसंख्या के कुल जनसंख्या में अनुपात में क्यों अन्तर होता है?

8. श्रम की मांग और पूर्ति से आप क्या समझते हैं? यह किन किन बातों पर निर्भर करती है?

6

श्रम की कार्य कुशलता

EFFICIENCY OF LABOUR

"ऐसा श्राम तौर से होता है कि व्यक्ति अधिक परिश्रम करके श्रधिक उत्पादन करते हैं किन्तु इसका यह श्राशय नहीं है कि वे श्रधिक घन्टे काम करके भी अनिवार्य रूप से अधिक उत्पादन करेंगे।"

—प्रो. जे. आर. हिक्स

कार्य कुशलता का श्रर्थ—उत्पादन के दृष्टिकोण से श्रमिकों की संख्या ही नहीं अपितु उनकी कार्यकुशलता का भी अत्यधिक महत्व है। कार्य कुशलता का अर्थ काम करने की शक्ति या उत्पापन क्षमता से होता है (एक दिये हुए समय में अधिक या अधिक अच्छा काम करने की श्रमिक की योग्यता को श्रम की कार्य कुशलता कहते हैं। दूसरे शब्दों में एक निश्चित समय और परिस्थितियों में एक श्रमिक की मात्रा तथा किस्म दोनों की दृष्टि से वस्तु के उत्पादन करने की शक्ति को श्रम की कार्य क्षमता कहते हैं। कार्य कुशलता के दो पक्ष हाते हैं:—(1) परिमाणात्मक पक्ष (Qnantitative aspect) अर्थात् अधिक मात्रा में वस्तुओं का निर्माण और (2) गुणात्मक पक्ष (Qualitatlve aspcct) अर्थात् अच्छी किस्म की वस्तुओं का निर्माण। इन दोनों दृष्टिकोणों से जो श्रमिक अधिक अच्छा उत्पादन करता है वह अधिक कार्य कुशल होता है। कार्य कुशलता सदैव तुलना-

श्यक होती है। दो व्यक्तियों की कार्य शक्ति की तुलना करके ही हम कह सकते हैं कि उनमें से कौन अधिक कार्य कुशल है। यदि समान दशाओं में नरेश राजेश से अधिक मात्रा में वस्तुएं उत्पन्न करता है तो वह अधिक कार्य कुशल होगा। इसी प्रकार यदि दोनों समान मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करते हैं किंतु नरेश का कार्य श्रेष्ठ है तो वह अधिक कार्य कुशल माना जावेगा। इस प्रकार श्रमिकों की कार्य कुशलता की तुलना करते समय हमें जिन बातों पर ध्यान रखना चाहिए वे हैं (i) कार्य दशाएं (ii) कार्य की अवधि (iii) कार्य की मात्रा (iv) कार्य की श्रेष्ठता। समान समय और दशाओं में अधिक मात्रा में और अधिक श्रेष्ठ कार्य करने वाले श्रमिको की अपेक्षा अधिक कार्य कुशल होते हैं। यदि निश्चित समय और समान परिस्थितियों में दो श्रमिक क्रमशः 50 और 60 गज समान किस्म का कपड़ा तैयार करते हैं तो 60 गज कपड़ा उत्पादन करने वाला श्रमिक अधिक कार्य कुशल कहलावेगा।

कार्य कुशलता की तुलना एक अन्य आधार से भी की जा सकती है। श्रमिक को नियोजित (Employ) करने वाले मालिकों की दृष्टि से श्रमिक कितना और किस किस्म का काम करता है इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रमिक की कितनी लागत है और उसके बदले में वह कितना उत्पादन करता है। जो श्रम कम लागत पर समान उत्पादन करता है या समान लागत पर अधिक उत्पादन करता है वह अधिक कार्यकुशल होता है।

श्रम की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाले कारक

Factors Affecting the Efficiency of Labour

सब श्रमिक समान रूप से कार्य कुशल नहीं होते हैं। कुछ श्रमिक अधिक कार्य कुशल होते हैं और कुछ श्रमिक कम कार्यकुशल होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न देशों के श्रमिकों की कार्य-कुशलता में अन्तर होता है। श्रमिकों की कार्य कुशलता कई बातों पर करती है। प्रो० पेन्सन (Prof. Penson)

कुशलता आंशिक रूप से सेवा योजक (Employer) और आंशिक रूप से श्रमिक पर, कुछ अंश तक संगठन पर और कुछ अंश तक व्यक्तिगत प्रयत्न पर आंशिक रूप से उसे काम करने के लिए दिये गये औजारों और मशीनों पर और आंशिक रूप से उन्हें काम में लेने की श्रमिक की निपुणता और परिश्रम पर निर्भर होती है।" श्रमिक की कार्य करने की योग्यता (Ability) एवं इच्छा (Willingness),

]

व्यवस्थापकों की संगठन शक्ति और काम में लाये गये यन्त्र और उपकरण भी उनकी कार्य क्षमता को प्रभावित करते हैं। सुविधा की दृष्टि से हम श्रमिकों की कार्य क्षमता को प्रभावित करने वाले तत्वों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण कर सकते हैं—

I श्रमिक के व्यक्तिगत गुण—

1. जातीय तथा पैतृक गुण—एक व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है उस जाति के गुण जन्म से ही उसमें होते हैं। स्वस्थ, शिक्षित और कुशल माता-पिता की सन्तानें भी स्वस्थ, शिक्षित, शक्तिशाली और कार्य कुशल होती हैं। परिश्रमी माता-पिता के बच्चे प्रारम्भ से ही परिश्रम के महत्व को समझने लगते हैं। अपने पूर्वजों के व्यवसाय को श्रमिक अधिक अच्छी तरह से कर सकता है। वैश्यों को व्यापारिक कुशलता अपने पूर्वजों से विरासत में ही मिलती है। इन्हीं जातीय और पैतृक गुणों के कारण ही वैश्य अच्छे व्यापारी और क्षत्रिय अच्छे सैनिक सिद्ध होते हैं।

2. स्वास्थ्य और जीवन-स्तर—श्रमिकों की कार्य कुशलता बहुत बड़ी सीमा तक श्रमिकों के स्वास्थ्य और उनके जीवन-स्तर पर निर्भर होती है। यदि श्रमिक स्वस्थ हैं तो वे अधिक मात्रा में और अच्छा कार्य कर सकेंगे। अच्छे स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त तथा पौष्टिक भोजन, अच्छे वस्त्र, स्वच्छ और हवादार मकान, शिक्षा, चिकित्सा और मनोरंजन की सुविधाओं आदि के रूप में उच्च जीवन-स्तर होना चाहिए। श्रमिकों को

श्रमिकों की कार्य कुशलता को प्रभावित करने वाली बातें
I श्रमिक के व्यक्तिगत गुण—
1 जातीय तथा पैतृक गुण
2 स्वास्थ्य और जीवन-स्तर
3 नैतिक गुण
4 सामान्य बुद्धि
5 सामान्य और व्यवसायिक शिक्षा तथा अनुभव
II देश की परिस्थितियाँ—
1 जलवायु

2 सामाजिक दशायें
3 धार्मिक परिस्थितियाँ
4 राजनीतिक परिस्थितियाँ

III कार्य करने की दशायें
1 कार्य के स्थान की दशा
2 कार्य करने के घन्टे और उनका वितरण
4 पर्याप्त प्रत्यक्ष और नियमित पुरस्कार
4 भावी उन्नति की आशा
5 कार्य की स्वतंत्रता और विभिन्नता
6 अच्छी मशीनों और औजारों का उपयोग
7 श्रम कल्याण कार्य और सामाजिक सुरक्षा

IV संगठन सम्बन्धी बातें—
1 संगठन की योग्यता
2 श्रमिकों के साथ किया जाने वाला व्यवहार

V अन्य तत्व—
1 श्रमिकों के संगठन
2 श्रमिकों का प्रवासी होना

आवश्यक, आरामदायक और विलास की वस्तुएँ कितनी मात्रा में मिलती हैं यह बात उसकी काम करने की इच्छा और शक्ति दोनों को बहुत प्रभावित करती है। जितना ही श्रमिकों का जीवन स्तर उच्च होगा वे उतने ही अधिक कार्य कुशल होंगे। अधिकांश भारतीय श्रमिकों का जीवन स्तर नीचा होने के कारण उनकी कार्य क्षमता कम होती है। अतः कार्य कुशलता में वृद्धि के लिए श्रमिकों का जीवन स्तर और स्वास्थ्य में सुधार करना चाहिए।

3. नैतिक गुण-श्रमिकों की कार्य क्षमता उनके चरित्र और नैतिक गुणों पर भी निर्भर होती है। सच्चरित्रता, कर्त्तव्य निष्ठा, ईमानदारी परिश्रम प्रियता आदि गुणों से सम्पन्न श्रमिक अपने उत्तरदायित्व को समझकर सावधानी पूर्वक कार्य करते हैं ऐसे श्रमिक अधिक कार्य कुशल होते हैं। इन गुणों के अभाव में श्रमिकों की कार्य क्षमता कम होती है। भारतीय श्रमिकों में शिक्षा की कमी और निर्धनता के कारण

कर्तव्य निष्ठा की कुछ कमी पाई जाती है जिससे उचित मजदूरी, उपयुक्त श्रम नीति और शिक्षा द्वारा बढ़ाया जा सकता है। कार्य कुशलता में वृद्धि के लिए श्रमिकों के नैतिक स्तर में सुधार वांछनीय है।

4. सामान्य बुद्धि (General intelligence)—श्रमिकों की सामान्य बुद्धि की मात्रा उनकी कार्य क्षमता को बहुत प्रभावित करती है। सामान्य बुद्धिमानी कुछ जन्म जात होती है और कुछ अर्जित (Acquired) होती है। जिस श्रमिक की स्मरण शक्ति अच्छी होती है, जो ठीक प्रकार से सोच सकता है, जिसमें परिस्थितियों के अनुसार उचित निर्णय और विवेक शक्ति होती है वह श्रमिक अन्य श्रमिकों की अपेक्षा अधिक कार्य कुशल होता है। अतः श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि के लिए उचित शिक्षा-दीक्षा द्वारा सामान्य बुद्धि का विकास किया जाना चाहिए।

5. सामान्य और व्यावसायिक शिक्षा तथा अनुभव (General and Occupational Education and Experience)—श्रमिक की कार्य कुशलता उनकी शिक्षा, प्रशिक्षण और अनुभव पर भी निर्भर करती है। अधिक कार्य कुशलता के लिए श्रमिकों की सामान्य और तकनीकी (Technical) दोनों प्रकार की शिक्षा आवश्यक है। सामान्य शिक्षा से श्रमिकों के मस्तिष्क का विकास होता है और ज्ञान में वृद्धि होती है। इस कारण वह कार्य और उससे सम्बन्धित समस्याओं को आसानी से समझ जाता है। व्यवसाय से सम्बन्धित तकनीकी शिक्षा श्रमिकों की कार्य क्षमता को प्रत्यक्ष रूप से बढाती है। अनुभव वृद्धि के साथ-साथ कार्य कुशलता में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार जो श्रमिक सामान्य और व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त होते हैं, जिन्होंने कार्य का प्रशिक्षण लिया होता है और जो अनुभवी होते हैं वे अधिक कुशल होते हैं। भारत में श्रमिक दक्षता की कमी
शिक्षा और प्रशिक्षण का अभाव है। अतः

को बढ़ाने के लिये उनकी सामान्य और व्यावसायिक शिक्षा और प्रशिक्षण की सुविधाओं की व्यवस्था की जानी चाहिये।

II देश की परिस्थितियां.—

(i) जलवायु (climate))—देश की प्राकृतिक परिस्थितियां मुख्य तया जलवायु श्रमिकों की कार्य क्षमता को बहुत प्रभावित करती है। गर्म देशों की तुलना में ठंडे देशों के श्रमिकों की कार्य कुशलता अधिक होती है। गर्म प्रदेशों की आवश्यकताएं सीमित और सरल होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए अपेक्षा-कृत कम मेहनत अपेक्षित होती है। इसके अतिरिक्त यहां गर्मी के कारण लोग अधिक मेहनत भी नहीं कर पाते। इसके विपरीत ठंडे देशों की आवश्यकताएँ अधिक होता हैं जिनकी पूर्ति के लिये अधिक परिश्रम आवश्यक है। साथ ही ऐसे प्रदेशों के लोग अधिक शक्तिशाली होते हैं और फुर्ती बनाये रखने के लिये उन्हें अधिक काम करना पड़ता है। इन कारणों से ठंडे प्रदेशों के श्रमिक गर्म प्रदेशों के श्रमिकों की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होते हैं। भारत एक गर्म देश है इसी कारण यहां के श्रमिक अमेरिका इङ्गलैंड, आदि ठण्डे देशों की तुलना में कम कार्य कुशल होते हैं।

(2) सामाजिक (Social) दशायें—देश की सामाजिक दशाओं का भी श्रमिकों की कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ता है। जाति प्रथा जन्म से ही बालकों को वंशानुगत कार्य को सिखाने में योग देकर श्रम की कुशलता में वृद्धि करती है। यह व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता को समाप्त कर उसकी कार्यशक्ति को घटाती भी है। इसी प्रकार संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System) में भी अपने द्वारा उत्पन्न सम्पत्ति का उपभोग अन्य अनुत्पादक सदस्यों द्वारा करते हुए देखकर अधिकतम धनोत्पत्ति का उत्साह मंद पड़ जाता है जिससे कार्य कुशलता पर विपरीत प्रभाव पढ़ता है। श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि के लिए सामाजिक दशाओं का निर्माण आवश्यक है।

(3) धार्मिक (Religious) परिस्थितियां:—धार्मिक कारण भी कार्यकुशलता को प्रभावित करते हैं। सादा जीवन और उच्चविचार

आध्यात्मिकता और भाग्यवाद आदि तत्व श्रमिकों की कार्यकुशलता को घटाते हैं। धार्मिक विचार कई बार अपनी इच्छा और योग्यता के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाते हैं। इन सबका परिणाम कार्य क्षमता में कमी होता है। परन्तु शिक्षा, आर्थिक विकास आदि के कारण इन बाधक तत्वों का प्रभाव कम हो रहा है।

(4) राजनीतिक परिस्थितियाँ—जिस देश में राजनीतिक स्थायित्व (Political Stability), सुरक्षा तथा शांति होती है वहाँ के श्रमिकों की कार्यक्षमता अधिक होती है। इसके विपरीत यदि राजनीतिक वातावरण अशांत होता है, हड़तालें और ताला बन्दियाँ (Lockout), आदि होती रहती है तो कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। पराधीन देश के श्रमिकों का उत्साह और आत्म विश्वास समाप्त हो जाता है और वे निराशावादी हो जाते हैं। अतः पराधीन देश की तुलना में स्वतन्त्र देश के श्रमिक अधिक कार्य-क्षमता वाले होते हैं। यदि किसी देश के कानून श्रमिकों को शोषण से रक्षा करने मे समर्थ होते हैं, यदि श्रमिकों को उपार्जित धन के इच्छानुसार उपभोग की स्वतन्त्रता होती है तो उस देश के श्रमिकों की कार्यक्षमता अन्य देशों के मुकाबले अधिक होती है।

III. कार्य करने की दशायें —

कार्य करने की दशायें श्रमिक दक्षता के निर्धारण मे बहुत महत्व पूर्ण होती हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार है:—

(1) कार्य के स्थान की दशा—जिस स्थान और जिन अवस्थाओं में श्रमिक काम करते हैं उनका भी कार्यकुशलता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि कार्य का स्थान स्वच्छ, हवादार, प्रकाशयुक्त और सुरक्षित होगा, यदि साफ पीने के पानी ...
बचाव मशीनों की दुर्घटनाओं से बचाव, ...
होगी तो श्रमिक अच्छा काम करेंगे और
ऊंचा होगा। यदि श्रमिकों को गन्दे,

स्थानों पर कार्य करना पड़े तो उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। अतः श्रमिकों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए उनके कार्य के स्थानों आदि की दशा में सुधार किया जाना चाहिए।

(2) **कार्य करने के घण्टे और उनका वितरण**—साधारणतया यह सोचा जाता है कि मजदूरों से जितना अधिक घण्टे काम लिया जायगा उतना ही उत्पादन अधिक होगा। किन्तु यह धारणा वास्तव में सही नहीं है। एक सीमा तक ही श्रमिकों से काम लिया जा सकता है। निरन्तर अधिक घण्टों तक काम करने से श्रमिकों में थकावट और शिथिलता आती है और कार्यकुशलता का ह्रास होता है। अतः काम में घण्टे अधिक नहीं होने चाहिए जिससे उन्हें आराम और मनोरंजन के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध हो सके। कार्य के घण्टों के साथ साथ उनका उचित वितरण भी कार्यकुशलता के लिए आवश्यक है। बीच बीच में उचित विश्राम कार्य क्षमता का स्तर ऊंचा रखने में सहायक होता है।

(3) **पर्याप्त, प्रत्यक्ष और नियमित पुरस्कार**—मजदूरों को उनके कार्य के बदले में यदि पर्याप्त मजदूरी दी जाती है तो उनका जीवन स्तर ऊंचा होगा और परिणाम स्वरूप उनकी कार्यकुशलता भी अधिक होगी। जब श्रमिक को यह विश्वास रहता है कि उसको उचित मजदूरी निश्चित समय पर मिलती रहेगी तो वह अपना कार्य पूर्ण लगन और मेहनत के साथ करेगा और इससे कार्य क्षमता का स्तर उंचा बना रहेगा। कार्य कुशलता के उच्च स्तर के लिये श्रमिकों को दिया जाने वाला प्रतिफल (Reward) पर्याप्त होने के साथ साथ प्रत्यक्ष समीप और नियमित भी होना चाहिए। यह सब बातें श्रमिकों में काम करने की लगन और प्रेरणा उत्पन्न करके उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि कर देती हैं।

(4) **भावी उन्नति (Future Progress) की आशा**—यदि श्रमिक को भविष्य में उन्नति की आशा है तो वह अधिक मेहनत के साथ कार्य करेगा। इस प्रकार भावी उन्नति की आशा श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि करने में सहायक होती है।

(5) कार्य की स्वतन्त्रता और विभिन्नता (Variety)—यदि श्रमिक को स्वतन्त्रता नहीं होगी तो उसे कार्य के प्रति अरुचि हो जायेगी और वह मन से काम नहीं करेगा। अतः कुशलता की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसे कुछ स्वतन्त्रता हो। इसी प्रकार लगातार एक ही काम करने से कार्य नीरस हो जाता है उसमे दिलचस्पी नहीं रहती जिससे कार्य क्षमता का ह्रास होता है। अतः कार्य की विभिन्नता और उसमे थोड़ा बहुत परिवर्तन कार्य के प्रति श्रमिक की रुचि जाग्रत करके उसकी कार्य कुशलता को बढ़ा देते हैं।

(6) अच्छी मशीनों और औजारो का उपयोग—यदि श्रमिको को अच्छे और आधुनिक यन्त्र और औजार काम करने के लिए दिए जायेंगे तो वे अधिक मात्रा में अच्छी वस्तुओं का उत्पादन कर सकेंगे और उनकी कार्यकुशलता अधिक होगी। इसके विपरीत पुरानी और घिसी पिटी मशीनो के उपयोग से कम उत्पादन होगा और श्रमिको की उत्पादकता भी कम होगी। पश्चिमी देशो की तुलना मे भारत के श्रमिकों की कार्य कुशलता की कमी का यह भी प्रमुख कारण है। कार्यकुशलता में वृद्धि के लिए श्रमिको को अच्छे और नवीनतम यंत्र दिए जाने चाहिए।

(7) श्रम कल्याण कार्य और सामाजिक सुरक्षा (Labour Welfare and Social Security)—श्रमिको के लिए कल्याणकारी कार्य जैसे शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, आदि की उचित व्यवस्था उनकी कार्यकुशलता मे वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था श्रमिक दुर्घटना आदि के बीमे आदि सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के कारण श्रमिक जीवन की अनिश्चितताओं से निश्चिन्त होकर कार्य करता है। परिणामस्वरूप उसकी कार्य क्षमता में वृद्धि होती है।

IV संगठन सम्बन्धी बातें:—

(1) संगठन की योग्यता.—श्रमिकों की कुशलता संगठकों की योग्यता और कुशलता पर निर्भर करती है। यदि

श्रमिकों की अपेक्षा अधिक या अधिक अच्छा कार्य करता है वह अधिक कार्य कुशल होता है।

कार्य कुशलता को प्रभावित करने वाली बातें—

I श्रमिक के व्यक्तिगत गुण—(1) जातीय तथा पैतृक गुण (2) स्वास्थ्य और जीवन स्तर (3) नैतिक गुण (4) सामान्य बुद्धि (5) सामान्य और व्यवसायिक शिक्षा तथा अनुभव।

II देश की परिस्थितियां—(1) जलवायु (2) सामाजिक दशायें (3) धार्मिक परिस्थितियाँ (4) राजनीतिक परिस्थितियाँ।

III कार्य करने की दशायें—(1) कार्य के स्थान की दशा (2) काम के घन्टे और उनका वितरण (3) पर्याप्त, प्रत्यक्ष और नियमित पुरस्कार (4) भावी उन्नति की आशा (5) कार्य की स्वतंत्रता और विभिन्नता (6) अच्छी मशीनों और औजारों का उपयोग (7) श्रम कल्याण कार्य और सामाजिक सुरक्षा।

IV संगठन सम्बन्धी बातें—(1) संगठन की योग्यता (2) श्रमिकों के साथ किया जाने वाला व्यवहार।

V अन्य कारक—(1) श्रमिक संगठन (2) श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति।

श्रम की कार्य कुशलता के लाभ—[1] उपभोक्ताओं को लाभ [2] उत्पादकों को लाभ [3] राष्ट्र को लाभ [4] श्रमिकों को लाभ।

प्रश्न

1. श्रम की कार्य कुशलता से आप क्या समझते हैं? उन तत्वों की व्याख्या कीजिये जिन पर श्रम की कार्यकुशलता निर्भर करती है।
2. श्रम की कार्य कुशलता का क्या अर्थ है? किन किन बातों पर श्रम की कार्य कुशलता निर्भर होती है? (राज. बोर्ड, 1960)
3. श्रम की कार्य क्षमता पर जिन कारणों का प्रभाव पड़ता है, उनकी परीक्षा कीजिये। (मध्य प्रदेश, हा. से., 1963)
4. 'श्रम की कार्य क्षमता' से आप क्या समझते हैं? किसी देश में श्रम की कार्यक्षमता को कौन-कौन सी बातें प्रभावित करती हैं? (राज. वि. वि., प्रि. यू., 1966)
5. अर्थ-शास्त्र में श्रम से आप क्या समझते हैं? श्रमिक की कार्य क्षमता पर किन बातों का प्रभाव पड़ता है, समझाइये। (राज. बोर्ड, से. परीक्षा, 1966)

विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन

SPECIALISATION AND DIVISION OF LABOUR

"अनुभव बताता है कि श्रम विभाजन के आविष्कार ने मनुष्य के आर्थिक जीवन की उन्नति और विकास में भारी सहायता दी है।"

—कारवर

श्रम विभाजन का अर्थ—श्रम विभाजन उत्पादन का वह तरीका है जिसके अन्तर्गत कार्य को कई विधियों और उपविधियों में विभाजित करके उपयुक्त व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों द्वाराकराया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति, योग्यता, शिक्षा, प्रशिक्षण, रुचि एवं अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः सब व्यक्ति सब प्रकार के कार्य करने के योग्य और इच्छुक नहीं होते। कुछ व्यक्ति किसी विशेष कार्य को करने के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं और रुचि रखते हैं तो कुछ व्यक्ति अन्य कार्यों को करने की अधिक क्षमता और रुचि सम्पन्न होते हैं। व्यक्तियों के द्वारा अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार उत्पादन कार्य करना श्रम-विभाजन कहलाता है। इस प्रणाली में एक वस्तु के उत्पादन को कई विधियों में विभाजितकर दिया जाताहै। उदाहरण केलिए कपड़ा बनाने का काम कपास उत्पन्न करना, बिनौले अलग करना, रुई धुनना, सूत कातना, सूत रंगना, कपड़ा बुनना,माड़ी लगाना, आदि कई मे बाँट दिया जाता है और प्रत्येक विभाग का कार्य

व्यक्तियों द्वारा उनकी योग्यता और रुचि के अनुसार किया जाता है। श्री वाटसन (Watson) के अनुसार "किसी उत्पादन क्रिया को मुख्य क्रियाओं में बांटना, विभिन्न व्यक्तियों (श्रमिकों) को उपक्रियाओं को करने के लिए देना और फिर उन व्यक्तियों (श्रमिकों) के प्रयासों को मिलाकर आवश्यक उपभोग-वस्तुओं का उत्पादन करने को ही श्रम विभाजन कहते है।"

विशिष्टीकरण का अर्थ—विशिष्टीकरण और श्रम विभाजन में थोड़ा अन्तर है विशिष्टीकरण का अर्थ कार्य या कार्यों को एक विशिष्ट क्षेत्र तक ही सीमित करना (limitation of activity within a particular field) है। इसमें वह व्यक्ति उस क्रिया में विशिष्टता और कुशलता प्राप्त कर लेता है। विशिष्टीकरण अधिक विस्तृत शब्द है। विशिष्टीकरण श्रम, पूंजी, प्रबन्ध, उद्यम और अन्य क्षेत्रों का भी हो सकता है। स्थान और उस वस्तु के उत्पादन में जिसका आशय होता है इन वस्तुओं का किसी विशेष वस्तु के उत्पादन में ही विशेषता प्राप्त करना। कुछ क्षेत्रों (region) में विशेष प्रकार की वस्तुओं का ही उत्पादन होता है इसे क्षेत्रों का विशिष्टीकरण (Specialisation of regions or localities) कहा जाता है। बहुत सी मशीनें और औजार ऐसे होते हैं जिनको केवल एक ही प्रकार की उत्पादन क्रिया में नियोजित किया जाता है। इस प्रकार आज के युग में पूंजी का विशिष्टीकरण (Specialisation of capital) भी होता है। इस प्रकार विशिष्टीकरण एक अधिक उपयुक्त शब्द है। यह अधिक विस्तृत है। श्रम के विशिष्टीकरण को ही श्रम विभाजन कहते हैं। श्रम विभाजन के परिणाम स्वरूप ही श्रमिक किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है।

श्रम विभाजन का विकास (Evolution of division of labour)

सभ्यता के विकास की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत सरल और सीमित थी। अतः प्रत्येक मनुष्य अपनी इन स्वल्प आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता था और उसे दूसरों पर निर्भर

रहना नहीं पड़ता था। अतः उस समय श्रम विभाजन नही था। किन्तु सभ्यता और आर्थिक जीवन के विकास के साथ साथ मनुष्य की आवश्यकताओ में तेजी से वृद्धि होती गई। अब एक मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं रहा कि वह केवल अपने ही प्रयत्नों द्वारा अपनी सब आवश्यक वस्तुओ को उत्पन्न कर सके। अतः अब मनुष्य अपनी योग्यता रुचि आर परिस्थितियों के अनुसार एक या कुछ वस्तुयें बनाकर उनको दूसरों से विनिमय करके अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगा। इस प्रकार श्रम विभाजन का जन्म हुआ। धीरे धीरे मुद्रा विनिमय प्रणाली, यातायात और सन्देशवाहन के साधनो के विकास,

श्रम विभाजन

नई नई मशीनो के आविष्कार आदि ने श्रम विभाजन प्रणाली को और अधिक प्रोत्साहन देकर विकसित किया। आज श्रमिक न केवल एक वस्तु का उत्पादन करता है बल्कि उस वस्तु के उत्पादन की केवल एक अत्यन्त छोटी सी प्रक्रिया को ही करता है। आज सूता बनाने का कार्य अस्सी उप विभागों में बंटा हुआ है और प्रत्येक विभाग का कार्य भिन्न भिन्न व्यक्तियो द्वारा किया जाता है। इस प्रकार आधुनिक युग मे श्रम विभाजन जटिल और व्यापक हो गया है।

श्रम विभाजन के प्रकार
Kinds of division of labour

श्रम विभाजन के मुख्य प्रकार निम्न लिखित हैं:—

(1) सरल श्रम विभाजन—(Simple division of labour)
जब किसी व्यवसाय का पूरा कार्य आदि से अन्त तक प्रायः एक ही

७

व्यक्ति द्वारा किया जाय तो इसे सरल श्रम विभाजन कहते हैं। इसमें समाज विभिन्न व्यवसायों में बंट जाता है जैसे कृषक, व्यापारी, डाक्टर, कुम्हार, अभिनेता, सुनार आदि। एक व्यक्ति प्रायः एक ही व्यवसाय करता है और पूरी वस्तु को बनाता है। इसी कारण इसे व्यावसायिक श्रम विभाजन (Occupational division of labour) भी कहते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों ने सरल श्रम विभाजन को एक दूसरे प्रकार से परिभाषित किया है। प्रो. टामस (Prof. Thomas) के अनुसार

> श्रम विभाजन के प्रकार
> 1. सरल श्रम विभाजन
> 2. जटिल या विषम
>   (अ) पूर्ण विधि श्रम विभाजन
>   (ब) अपूर्ण विधि श्रम विभाजन
> 3. प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन

"जब कोई कार्य एक व्यक्ति के लिए बहुत कठिन अथवा भारी हो और उसे दो या दो से अधिक व्यक्ति एक ही प्रकार काम करते हुए सम्पन्न करने में योग दें तो इसे सरल श्रम विभाजन कहते हैं।"

2. जटिल या विषम श्रम विभाजन (Complex division of labour) जब प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह कोई ऐसा विशिष्ट काम करता है जो अन्तिम उत्पादन में सहायक मात्र होता है तो इसे जटिल या विषम श्रम विभाजन कहते हैं। जटिल श्रम विभाजन भी निम्न दो प्रकार का होता है।

(अ) पूर्ण विधि श्रम विभाजन (Division of Labour into Complete processes):—इस प्रकार का श्रम विभाजन तब होता है जब किसी उद्योग में उत्पादन कार्य को कई विधियों में बांट दिया जाता है तथा प्रत्येक विधि पृथक पृथक श्रम समूह द्वारा सम्पन्न की जाती है इसमें एक श्रम समूह द्वारा उत्पन्न वस्तु दूसरे समूह के लिए कच्ची सामग्री की भांति कार्य करती है। इस प्रणाली में उत्पादन कार्य की विभिन्न विधियां अपने में पूर्ण होती है इसलिए इसे पूर्ण विधि श्रम विभाजन कहते हैं। वस्त्र उद्योग को भिन्न-भिन्न किन्तु पूर्ण विधियों

में जैसे सूत कातना कपड़ा बुनना, रंगना, आदि में विभाजन करके सम्पन्न किया जाना इसी प्रकार का श्रम विभाजन है।

(ब) अपूर्ण विधि श्रम विभाजन (Division of Labour into incomplect processes):—इस स्थिति में किसी उद्योग में उत्पादन कार्य को पूर्ण विधियों को भी अनेक उपविधियों या क्रियाओं में विभाजित कर दिया जाता है और एक श्रमिक या श्रम समूह केवल इस उपविधि को सम्पन्न करने में ही लगा रहता है। पूर्ण विधि श्रम विभाजन में जो पूर्ण विधि थी वह अब एक पूर्ण उद्योग बन जाता है और उसमें अनेक उपविधियाँ हो जाती हैं। सूत कातने और बुनने की क्रियायें भी अनेक उपक्रियाओं में विभाजित करके सम्पन्न कराई जाती हैं।

(3) प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन (Territoral or Geographical Division of Labour):—इसे स्थानीयकरण (Localisation of industries) भी कहते हैं। कुछ स्थान किसी वस्तु के उत्पादन के अधिक उपयुक्त होते हैं तो कुछ स्थान अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए श्रेष्ठ होते हैं। अतः विभिन्न स्थानों पर विभिन्न उद्योग स्थापित हो जाते हैं। अतः जब संसार के विभिन्न देश या एक ही देश के विभिन्न प्रदेश विभिन्न प्रकार के उद्योगों के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं तो इसे प्रादेशिक श्रम विभाजन या विशिष्टीकरण कहते हैं।

श्रम विभाजन की आवश्यक दशायें
Condition of Division of Labour

श्रम विभाजन के लिये निम्न दशाओं का होना आवश्यक है:—

(1) बड़े पैमाने का उत्पादन—श्रम विभाजन तभी सम्भव होगा जब कि उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जा रहा हो और बहुत से श्रमिकों की आवश्यकता है।

श्रम विभाजन की आवश्यक दशायें
1. बड़े पैमाने का उत्पादन
2. श्रमिकों में सहयोग
3. उत्पादन की निरंतरता
4. बाजार का विस्तृत होना
5. विनिमय की सुविधायें
6. पूंजी और श्रम की उपलब्धि
7. योग्य साहसी और संगठन
8. उचित वातावरण

(2) श्रमिकों में सहयोग:—श्रम विभाजन के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिकों में पारस्परिक सहयोग हो क्योंकि एक वस्तु के निर्माण में विभिन्न प्रकार के बहुत से श्रमिकों को काम करना पड़ता है।

(3) उत्पादन का लगातार होना—श्रम विभाजन के लिए उत्पादन कार्य का निरंतर जारी रहना" जरूरी है। यदि कार्य बीच में बन्द होता जाता है तो श्रमिक खाली समय में दूसरा कार्य खोजेंगे और एक ही प्रकार के कार्य में विशिष्टि-करण (Specialisation) नहीं प्राप्त कर पायेंगे।

(4) बाजार का विस्तृत होना—श्रम विभाजन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वस्तु या वस्तुओं का बाजार विस्तृत हो और उसकी मांग अधिक और स्थायी हो। तभी बड़े पैमाने पर और निरंतर उत्पादन किया जायेगा। बाजार के विस्तृत होने के लिए यातायात और संदेश वाहन के साधनों, आदि का पर्याप्त विकास होना भी जरूरी है।

(5) विनिमय की सुविधायें—श्रम विभाजन तभी होगा जबकि वस्तुओं का पर्याप्त मात्रा में और सुविधाजनक ढंग से विनिमय हो जो वस्तु विनिमय प्रणाली (Barter system) में संभव नहीं। अतः श्रम विभाजन के विकास के लिए मुद्रा विनिमय प्रणाली (Money Exchange system) हो। इसके साथ ही बैंक, साख, बीमा, यातायात के साधनों का विकास भी आवश्यक है।

(6) पूंजी और श्रम की उपलब्धि—श्रम विभाजन के लिए

बहुत बड़ी संख्या में कुशल श्रमिक चाहिए। मशीनों के लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी भी चाहिए।

(7) योग्य साहसी और संगठक—श्रम विभाजन की उचित व्यवस्था के लिए योग्य और कुशल साहसी तथा संगठकों का होना भी जरूरी है।

(8) उचित वातावरण—लोग परिवर्तनों को स्वीकार करने तथा उनके साथ समायोजन करने को तैयार हों। यदि व्यक्तियों का ऐसा दृष्टिकोण नहीं है तो नई रीतियों के प्रयोग में कठिनाई उपस्थित होगी और श्रम विभाजन का क्षेत्र सीमित हो जायेगा।

श्रम विभाजन के लाभ

श्रम विभाजन से श्रमिकों, उत्पादकों, उद्योग और सम्पूर्ण समाज को कई लाभ होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

I श्रमिकों को लाभ—

(1) मानव साधनों का अधिक अच्छा उपभोग-(More effective use of human resources)—प्रत्येक मनुष्य की योग्यता, शिक्षा, प्रशिक्षण, स्वभाव, रुचि, आदि भिन्न भिन्न होती है। श्रम विभाजन के परिणाम स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार कार्य मिल जाता है और इस प्रकार मानव साधनों का सर्वाधिक लाभ-दायक उपयोग होता है। इससे उत्पादन अधिक होता है।

(2) कार्य कुशलता में वृद्धि (Increase in efficiency)—इस प्रणाली में उत्पादन क्रिया को कई सरल विधियों में विभाजित करके सम्पन्न किया जाता है। प्रत्येक श्रमिक एक कार्य को बार बार तथा लम्बे समय तक करता रहता है। इससे वह इस कार्य के सम्पादन में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेता है। "करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान" वाली उक्ति के अनुसार वह उस कार्य को करने में कुशल हो जाता है। एडमस्मिथ के अनुसार श्रम विभाजन से चतुराई और कार्य कुशलता बढ़ती है।

(3) कार्यों का सरल होना (Simplification of tasks)—श्रम विभाजन प्रणाली में एक जटिल कार्य को कई सरल भागों या उपविधियों में बांट दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक विधि बहुत सरल हो जाती है जिसे किसी भी प्रकार का श्रमिक कर सकता है।

(4) काम सीखने में कम समय (Less apprenticeship)—उत्पादन की इस प्रणाली में एक श्रमिक को केवल एक कार्य की एक साधारण उपक्रिया ही करनी पड़ती है और उपक्रिया बहुत सरल होती है। एक औसत श्रमिक इन सरल उपविधियों को आसानी से बहुत कम समय और व्यय में सीख लेता है। इस प्रकार एक श्रमिक की प्रशिक्षण अवधि बहुत कम हो जाती है।

(5) परिश्रम में कमी (Less labour)—श्रम विभाजन प्रणाली में काम बहुत आसान हो जाता है। इसके अलावा भारी कठिन, जोखिम पूर्ण और घृणास्पद कार्य मशीनों के द्वारा कर लिये जाते हैं। इस प्रकार श्रमिकों का कम परिश्रम करना पड़ता है।

श्रम विभाजन के लाभ

I श्रमिकों को लाभ

1 मानव साधनों का अच्छा उपयोग
2 कार्य कुशलता में वृद्धि
3 कार्यों का सरल होना
4 काम सीखने में कम समय
5 परिश्रम में कमी
6 सब प्रकार के व्यक्तियों को रोजगार
7 गति शीलता में वृद्धि
8 श्रमिकों में संगठन की भावना में विकास
9 अधिक आराम और अवकाश
10 उत्पादकता में वृद्धि और उच्च जीवन-स्तर

(6) सब प्रकार के व्यक्तियों को रोजगार (Employment) श्रम विभाजन के परिणाम स्वरूप विभिन्न प्रकार के उद्योगों की स्थापना होती है और कार्यों की विभिन्नता में वृद्धि होती है अतः सब प्रकार के व्यक्तियों को रोजगार मिल जाता है। कुछ कार्य इतने सरल हो जाते हैं कि

उन्हें बच्चे, महिलायें और अपंग व्यक्ति भी करके जीविकोपार्जन कर सकते हैं। इस प्रकार रोजगार के अवसरों मे वृद्धि होती है और बेरोजगारी कम होती है।

(7) गतिशीलता (Mobility) में वृद्धि-जब उत्पत्तिकायें को बहुत सूक्ष्म उपक्रियाओं में बांट दिया जाता है तो वे बहुत सरल और एक सी हो जाती है आवश्यकता पड़ने पर श्रमिक इसे शीघ्र सीख लेता है। बड़े बड़े कारखानों में प्रायः स्वचालित (Automatic) या अर्द्ध-स्वचालित (Semi-Automatic) यन्त्रों का प्रयोग होता है जिनके चलाने के ढंग में पर्याप्त समानता पाई जाती है। इससे श्रमिक को एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरे व्यवसाय को अपनाने में सुविधा हो जाती है। इस प्रकार श्रमिकों की गतिशीलता मे वृद्धि होती है।

II विभाजन और उद्योग को लाभ

1. उत्पादन मे वृद्धि
2. मशीनों के लाभ
3. यन्त्रों का अधिक और मितव्ययता पूर्ण उपयोग
4. आविष्कारो को प्रोत्साहन
5. समय की बचत
6. अच्छी किस्म की वस्तुओं का निर्माण
7. उच्च जीवन स्तर
8. कुशल प्रबन्धकों और साहसियों का जन्म
9. बड़े पैमाने के उत्पादन को प्रोत्साहन

(8) श्रमिकों में संगठन की भावना का विकास (Formation of Trade Unions)—श्रम विभाजन प्रणाली मे बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है जिसमें बड़ी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता होती है। उनमें सहयोग होना भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति मे हजारो श्रमिकों को एक स्थान पर रहने, कार्य करने और सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता है जिससे उनमे सहयोग, एकता और संगठन की भावना बढ़ती है। वे अपने हितों की रक्षा के लिए श्रम संघो की स्थापना करते हैं।

योग्यता, प्रशिक्षण और रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न और बहुधा एक ही प्रकार का व्यवसाय करते हैं। देश की श्रमशक्ति किन-किन प्रकार के व्यवसायों में लगी हुई है इसे श्रमिकों का व्यवसायिक वितरण कहते हैं। विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न व्यवसायों का प्रावान्य होता है और आर्थिक विकास के स्तर के अनुसार जनसंख्या का भिन्न भिन्न अनुपात इसमें लगा हुआ होता है। उन्नतिशील और विकसित देशों में उद्योग (Industry) तथा पक्के माल (Finished Products) के निर्माण में जनसंख्या का अधिक भाग लगा होता है जबकि निर्धन और अविकसित देश में कृषि, पशुपालन, मत्स्य पालन, खान खोदना, जंगल बागान आदि प्राथमिक (Primary) और कच्चे माल (raw material) के उत्पादन करने वाले व्यवसायों से श्रमिकों का अधिकांश भाग जीविकोपार्जन करता है। कार्यरत जनसंख्या का कृषि में लगा हुआ भाग आस्ट्रेलिया, कनाडा, ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, संयुक्त अरबगण राज्य और भारत में क्रमशः 15.4%, 19%, 4.9%, 12.2%, 44.5%, 50.6% और 69.53% है दूसरी ओर अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, जापान, आदि देशों में सक्रिय जनता का 30 से 50% तक भाग उद्योगों में संलग्न है जबकि भारत बर्मा, संयुक्त अरब गणराज्य, पाकिस्तान, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के कई अर्द्ध विकसित देशों में औद्योगिक श्रमिकों का अनुपात 8% से 18% ही है। निम्न तालिका में कुछ देशों में जनसंख्या के व्यवसायिक वितरण को बतलाती है।

भारत की जनगणना के अनुसार देश में कार्यरत लोगों का विभिन्न पेशों में वर्गीकरण निम्न प्रकार है:—

व्यवसाय	1951 (लाख)		1961 (लाख)	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
कृषि कार्य	697.9	19.56	995.1	22.70
कृषि श्रमिक	275.1	77.1	314.8	71.8

उत्खनन आदि	41.2	7.15	51.9	1.18
गृह उद्योग	×	×	120.3	2.74
निर्माण (गृह उद्योग के अतिरिक्त)	125.5	3.52	79 6	1.82
इमारती कार्य	14.7	0.41	20.6	0.46
व्यापार एवं वाणिज्य	73.1	2.05	76.6	1.74
यातायात भंडार गृह एवं संवादवहन	21.4	0.64	30.0	0.69
अन्य सेवाएं	146.3	4.10	195.5	4.46
कुल कार्यरत	1395.2	39.10	1884.2	42.98
अकार्य रत	2173.6	60.90	2498.9	57.02
योग	3568 8	100.00	4383.1	100.00

× इसके अंक उत्खनन, आदि एवं निर्माण मे शामिल है ।

इंगलेंड में कार्यालय जनसंख्या का व्यवसायिक वितरण

Source-Economic development of U.S.A.

सन् 1957(लाख मे)

व्यवसाय	पुरुष	स्त्री	योग	प्रतिशत
कृषि	9	1	10	4.10
कोयला खनिज	8	....	8	3.3
धातु कार्य (मोटर, जहाज, विद्युत सामग्री के निर्माण सहित)	36	9	45	18.7
वस्त्र व्यवसाय	6	10	16	6.6
खाद्य पदार्थ, पेय पदार्थ और तम्बाकू निर्माण	5	4	9	3.7
रसायन	4	2	6	2.5
कागज और छपाई	4	2	6	2.5
अन्य निर्माण कार्य	7	3	10	4.1
भवन निर्माण	15	....	15	6.2

यातायात	15	3	18	7.5
वितरणात्मक व्यापार	16	14	30	12.4
बीमा और वित्त	3	2	5	2.1
गैस और विद्युत	3	....	3	1.3
व्यक्तिगत सेवायें	13	24	37	15.4
सार्वजनिक प्रबन्ध	9	4	13	5.3
सशस्त्र सेनायें	7	....	7	3.0
बेरोजगार	2	1	3	1.3
योग	162	79	241	100.00

संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या 18 करोड़ 20 लाख है जिसमें से सक्रिय असैनिक श्रम शक्ति 1960 में 7 करोड़ 20 लाख थी जिनमें से लगभग 4 करोड़ 70 लाख पुरुष और 2 करोड़ 50लाख स्त्रियां थी। इस असैनिक मानव शक्ति का व्यावसायिक वितरण निम्न प्रकार था।

निर्माण उद्योग	....	....	....	25%
वितरण, थोक व खुदरा व्यापार		....	....	20%
कृषि	....	....	....	10%
सरकारी सेवाएं	....	....	....	15%
खानें एवं भवन निर्माण	....	....	....	30%
				100%

श्रमिकों का विभिन्न व्यवसायों में उचित वितरण:—किसी समाज के आर्थिक संगठन के लिए सर्वप्रथम महत्वपूर्ण बात यह होती है कि इसकी कार्यशील जनसंख्या विभिन्न व्यवसायों में उचित रूप से वितरित हो। इसका केवल यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक व्यवसाय में उस व्यवसाय की मांग के अनुसार उचित संख्या में श्रमिक हों किन्तु यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यवसाय में संलग्न श्रमिकों के गुण

और योग्यता भी उस व्यवसाय के सर्वाधिक योग्य (appropriate) हो जहाँ वे अपनी योग्यता का सर्वाधिक उपयोग कर सकें। सारांश में प्रत्येक व्यवसाय में श्रमिकों की पूर्ति संख्यात्मक और गुणात्मक दृष्टिकोण से व्यवसाय की मांग के अनुसार हो अर्थात प्रत्येक व्यवसाय में श्रमिकों की मांग और पूर्ति में सामंजस्य होना चाहिए। एक पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि श्रम की मांग और पूर्ति किन बातों पर निर्भर है।

यह स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी व्यवसाय को करे जिसे वह पसन्द करता हो क्योंकि उनकी उस व्यवसाय में रुचि है तो श्रमिक का विभिन्न व्यवसायों में आदर्श और वांछनीय वितरण नहीं हो सकेगा। कुछ जन प्रिय (Popular) व्यवसायों से अधिक व्यक्ति और कम जन प्रिय व्यवसायों में कम श्रमिक होंगे। इससे श्रमिकों की पूर्ति कुछ व्यवसायों में कम और कुछ में अधिक हो जायेगी। परिणाम स्वरूप कुछ प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं आवश्यकता से अधिक उत्पन्न की जायेंगी जबकि अन्य सेवाओं और वस्तुओं का पूर्ति का भारी अभाव होगा। अतः विभिन्न व्यवसायों में श्रमिकों का वितरण केवल उत्पादकों और श्रमिकों की पसन्द पर ही नहीं छोड़ा जा सकता। उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं पर भी ध्यान देना पड़ेगा और जिन वस्तुओं और सेवाओं को उपभोक्ता अधिक चाहते हैं उनमें अधिक श्रमिकों की पूर्ति का प्रबन्ध करना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक उत्पादक और श्रमिक उपभोक्ता भी है अतः इसमें सभी का कल्याण है कि विभिन्न व्यवसायों में श्रमिकों की पूर्ति का मांग के साथ समायोजन (Adjustment into the Demand and Supply) किया जाय। इसके बिना कोई समाज जीवित नहीं रह सकता।

श्रमिकों की मांग और पूर्ति में समायोजन के तरीके

(Methods of making the adjustment between the Demand and Supply of Labour)

प्रत्येक व्यवसाय में श्रमिकों की मांग और पूर्ति में

करने की निम्न मुख्य दो प्रणालियाँ हैं—(1) निर्देशन या बाध्यता (Compulsion) और (2) प्रोत्साहन एवं प्रेरणा (Incentive)।

(1) **निर्देशन या बाध्यता प्रणाली (Compulsion method)**—जब यह अनुभव किया जाय कि व्यवसाय विशेष में अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता है तो सरकार कुछ व्यक्तियों को चुन करके उन्हें उस व्यवसाय या स्थान में काम करने को विवश करती है। इस प्रणाली को बाध्यता प्रणाली कहते है। युद्ध काल में इस प्रणाली का अधिक उपयोग किया जाता है। युद्ध जैसे संकट काल (Emergency) में श्रमिकों को अन्य व्यवसायों में शीघ्र अस्थायी हस्तांतरण के लिए यही एक मात्र व्यवहारिक तरीका है। किन्तु सामान्य स्थिति में यह कोई अच्छा तरीका नहीं है। इस प्रणाली की औचित्य (Fairness) के दृष्टिकोण से भी आलोचना की जाती है। मानलो कि किसी नये व्यवसाय के लिए एक हजार श्रमिकों की आवश्यकता है तो यह समस्या उपस्थित होती है कि अन्य व्यवसायों में लगे लाखों श्रमिकों में से कौन से एक हजार व्यक्तियों को इस व्यवसाय में स्थानांतरित किया जावे। सर्वोत्तम बात यह होगी कि उन एक हजार व्यक्तियों को ढूंढा जाय तो नवीन व्यवसाय में सर्वाधिक उपयुक्त हों और पुराने व्यवसाय में न्यूनतम आवश्यक हों और जिन्हें कम से कम कष्ट से दूसरे व्यवसाय में भेजा जा सके। यह तीनों प्रकार की शर्तें एक ही प्रकार के व्यक्तियों द्वारा पूरी करने की सम्भावना कम होती है। किन्तु फिर भी कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सब शर्तों को पूरी करते हैं और कुछ इनमें से अधिकांश शर्तों को। अतः यदि निर्देशन की प्रणाली बिना किसी चयन (Selection) के अपनाई गई तो यह भी हो सकता है कि नये व्यवसाय में भेजे गये श्रमिकों की संख्या तो ठीक हो किन्तु गुण, योग्यता, इच्छा, आदि की दृष्टि से अनुपयुक्त हो।

(2) **प्रोत्साहन या प्रेरणा का तरीका (Incentive method)**—इस प्रणाली में श्रमिकों की कमी वाले व्यवसायों में जाने के लिए

श्रमिकों को प्रोत्साहन या प्रेरणा दी जाती है। इस प्रेरणा के कई रूप हो सकते हैं जैसे—

(1) सम्मान:—जैसे इंगलैंड में नाईट हुड (Knight Hood) आदि की उपाधियाँ।

(2) विशेष रियायतें:—जैसे सोवियत रूस में शॉक ब्रिगेड्स (Shock brigades)

(3) आर्थिक लाभ:—सर्वाधिक सरल प्रणाली श्रमिकों की कमी वाले व्यवसायों में अधिक मजदूरी देना है।

प्रोत्साहन प्रणाली के लाभ:—इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि इस प्रणाली में नये व्यवसाय के लिए श्रमिकों का चयन आसानी से हो जाता है। जब कोई नियोक्ता अपने उद्योग के लिए एक हजार व्यक्तियों की तलाश करता है तो सबसे पहले वह यह अनुमान लगाता है कि एक हजार योग्य व्यक्तियों को नये व्यवसाय में आकर्षित करने के लिए कितनी मजदूरी देना आवश्यक होगा। स्वाभाविक रूप से यह मजदूरी की दरें एक हजार से भी अधिक व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त ऊँची होंगी और इन सब व्यक्तियों में से एक हजार व्यक्ति चुन लिये जायेंगे। ये श्रमिक नये व्यवसाय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होंगे क्योंकि बहुत से व्यक्तियों में से इनका चयन किया गया है। ये ऐसे होंगे जो पुराने व्यवसायों के लिए भी अत्यन्त आवश्यक नहीं होंगे अन्यथा इन्हें अधिक मजदूरी आदि देकर पुराने मालिक ही रख लेते। इस प्रणाली में निर्देशन प्रणाली की तरह इन श्रमिकों को अधिक कष्ट और असुविधा भी नहीं होगी क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे स्वयं नये व्यवसाय के लिए प्रयास नहीं करते।

किन्तु प्रोत्साहन प्रणाली आय की असमानता को जन्म देती है क्योंकि जिन व्यक्तियों की योग्यता की माँग अधिक तीव्र होती है वे अधिक मजदूरी अर्जित करते हैं। जिन श्रमिकों की योग्यता की माँग कम तीव्र होती है उन्हें कम मजदूरी दी जाती है। कभी कभी तो इन्हें

दी जाने वाली मजदूरी इतनी कम होती है कि ऐसे श्रमिकों की समाज को रक्षा करनी पड़ती है। कई व्यवसायों में न्यूनतम मजदूरी (Minimum wages) निश्चित करदी जाती है एवं बेकारी की अवस्था में बिना श्रम किये ही मजदूरी दी जाती है। अतः आधुनिक समाजों में विभिन्न व्यवसायों में श्रम के वितरण के लिए कुछ शर्तों के साथ ही प्रोत्साहन प्रणाली का उपयोग होता है।

सारांश

श्रम विभाजन का अर्थ--उत्पादन कार्य को कई विधियों और उपविधियों में विभाजित करके उपयुक्त व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों द्वारा कराये जाने को श्रम विभाजन कहते हैं। व्यक्तियों के द्वारा अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार उत्पादन कार्य करना श्रम विभाजन कहलाता है।

विशिष्टीकरण का अर्थ--यह श्रम विभाजन से अधिक विस्तृत शब्द है। विशिष्टीकरण का अर्थ श्रम, पूंजी प्रबन्ध, उद्यम, देश आदि का किसी विशेष वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करना है।

श्रम विभाजन के प्रकार:--(1) सरल श्रम विभाजन (2) जटिल या विषम श्रम विभाजन (3) प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन।

श्रम विभाजन की आवश्यक दशायें--(1) बड़े पैमाने का उत्पादन (2) श्रमिकों में सहयोग (3) उत्पादन की निरंतरता (4) बाजार विस्तृत होना (5) विनिमय की सुविधायें (6) पूंजी और श्रम की उपलब्धि (7) योग्य साहसी और संगठकों का होना (8) उचित वातावरण।

श्रम विभाजन के लाभ

(अ) श्रमिकों को लाभ:---(1) मानव साधनों का अच्छा उपयोग (2) कार्य कुशलता में वृद्धि (3) कार्यों का सरल होना (4) काम सीखने में कम समय (5) परिश्रम में कमी

(6) सब प्रकार के व्यक्तियों को रोजगार (7) गतिशीलता में वृद्धि (8) संगठन की भावना का विकास (9) अधिक आराम और अवकाश (10) उत्पादकता में वृद्धि और उच्च जीवन स्तर।

(ब) समाज और उद्योग को लाभ—(1) उत्पादन में वृद्धि (2) मशीनों के लाभ (3) यन्त्रो का अधिक और मितव्ययिता पूर्ण उपयोग (4) आविष्कारों को प्रोत्साहन (5) समय की बचत (6) अच्छी किस्म की वस्तुओं का निर्माण (7) उच्च जीवन स्तर (8) कुशल प्रबन्धकों और साहसियों का जन्म (9) बड़े पैमाने के उत्पादन को प्रोत्साहन।

श्रम विभाजन की हानियाँ—

(अ) श्रमिक वर्ग को हानियाँ—(1) सृजनात्मक आनन्द का अभाव (1) नीरसता (3) कार्य कुशलता और श्रमिको के विकास पर बुरा प्रभाव (4) उत्तरदायित्व की कमी (5) गतिशीलता में बाधा (6) स्त्रियों और बच्चों का शोषण (7) बेरोजगारी।

(ब) उद्योग और समाज को हानियाँ—पारस्परिक निर्भरता (2) कारखाना प्रणाली के दोष (3) वर्ग संघर्ष (4) अति उत्पादन (5) वितरण की समस्या।

श्रम विभाजन की सीमायें (1) बाजार विस्तार (2) माग का स्वरूप (3) व्यवसाय का स्वरूप (4) पूंजी संचय (5) तकनीकी कारक (5) वितरण की समस्या

श्रमिकों का व्यवसायों में वितरण—देश की श्रम शक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगी हुई है इसे श्रमिकों का व्यवसायिक वितरण कहते हैं। प्रत्येक देश की जनसंख्या विभिन्न व्यवसायो में रूप से वितरित होनी चाहिए। अर्थात प्रत्येक व्यवसाय ...
मांग और पूर्ति में सामजस्य होना चाहिए
निर्देशन या बाध्यता प्रणाली और दूसरी

प्रश्न

1 श्रम विभाजस के लाभ और हानियाँ क्या हैं ?

(इण्टर आर्टस, विहार 1957)

2 संक्षेप में विभाजन के लाभ वतलाइये। क्या इनकी कोई सीमायें हैं। (म० भा० इण्टर आर्टस 1957)

3 श्रम विभाजन की परिभाषा दीजिये। इसके लाभ, हानियाँ और सीमायें क्या हैं ? (रा० बोर्ड, इण्टर कामर्स, 1959)

4 श्रम विभाजन, इसके लाभ और हानियों पर नोट लिखिये।

(उत्तर प्रदेश, इण्टर आर्टस, 1962)

5 श्रम विभाजन का अर्थ स्पष्ट कीजिये। इसका उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उदाहरण देकर अपने उत्तर को स्पष्ट कीजिये।

(उत्तर प्रदेश, इण्टर आर्टस्, 1960)

6 श्रम विभाजन के मुख्य लाभ और हानियों का वर्णन कीजिये।

(मध्य प्रदेश बोर्ड हायर सेकण्डरी, 1965)

7 श्रमिकों के व्यवसायिक वितरण से आप क्या समझते हैं ? विभिन्न व्यवसायों में श्रमिकों की मांग और पूर्ति में समायोजन के क्या तरीके हैं।

8 विकसित और अर्द्ध विकसित देशों में श्रमिकों के व्यवसायिक वितरण पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

8

पूंजी

CAPITAL

"जीवन स्तर में सतत एवं स्थायी सुधार केवल उत्पादक क्षमता में निरन्तर विस्तार से ही प्राप्त किया जा सकता है जो स्वयं बहुत सीमा तक पूंजी निर्माण की गति पर निर्भर है।" —पाल एलपर्ट

पूंजी का अर्थ (Meaning of Capital)—

साधारण बोल चाल मे पूंजी का अर्थ द्रव्य तथा धन-सम्पत्ति से लिया जाता है। किन्तु अर्थशास्त्र मे पूंजी का एक विशेष अर्थ होता है। साधारण व्यक्ति 'धन' और 'पूंजी' दोनो को समानार्थक समझते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र में ये दोनों भिन्न भिन्न अर्थों को प्रकट करने वाले भिन्न भिन्न शब्द हैं। अर्थशास्त्र में धन का केवल वह भाग जो और अधिक धनोत्पत्ति के कार्य में आता है 'पूंजी' कहलाता है। मनुष्य अपने धन मे से कुछ का उपभोग करता है। उपभोग के उपरान्त बचे हुए धन का या तो निसंचय (Hoarding) करता है या उसे इस प्रकार उपयोग में ला सकता है जिससे उसे और अधिक आय प्राप्त हो। धन का यह दूसरा प्रयोग ही उसे पूंजी बना देता है। अतः मनुष्य कृत धन का वह भाग है जो और अधिक धन ... प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार पूंजी में रेल, ... औजार, मशीनें, भवन आदि सम्मिलित होते हैं।

प्रो. चेपमेन (Prof. Chapman) के शब्दों में "पूंजी वह धन है जो आय प्रदान करता है अथवा आय के उत्पादन में सहायक होता है अथवा जिसके इस प्रकार उपयोग करने की इच्छा होती है।"

श्री एडम स्मिथ (Adam Smith) के मत में "पूंजी सम्पत्ति का वह भाग है जिसे व्यक्ति आय प्राप्त करने की आशा से उत्पादन में लगा देता है।

प्रो. टामस (Thomas) के शब्दों में "पूंजी भूमि को छोड़कर व्यक्तिगत तथा सामूहिक सम्पत्ति का वह भाग है जो अधिक धनोत्पादन में सहायक होता है।

पूंजी के उपयोग में उपभोग पदार्थ (Consumption goods) और उत्पत्ति पदार्थ दोनों का ही उत्पादन होता है। किसी भी वस्तु का उपभोग जब प्रत्यक्ष आवश्यकता की संतुष्टि के लिए किया जाता है तो उसे उपभोग वस्तु कहते हैं। किन्तु जब वस्तु का उपयोग आय प्राप्त करने या परोक्ष रूप से आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए किया जाता है तो इसे उत्पादक वस्तु कहते हैं। पूंजी का अर्थ सामान्यतया इसी प्रकार की उत्पादक वस्तुओं (Producer's goods) से लिया जाता है। इन्हें पूंजीगत वस्तुयें (Capital goods) कहते हैं। कुछ अर्थशास्त्री इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। वे इस बात को उचित नहीं मानते कि कार, रेडियो, मकान, आदि उपभोग्य पदार्थ यदि उपभोक्ताओं के पास हैं तो पूंजी नहीं है और यदि यही पदार्थ उत्पादकों के पास है तो पूंजी है। श्री बेन्हम (Benham) अर्थशास्त्री ऐसे पदार्थों को भी पूंजी मानने के पक्ष में है क्योंकि ये वस्तुएं कितने ही वर्षों तक निरन्तर सेवा और उपयोगिता की आय प्रदान करती है। प्रो. फिशर (Prof. Fisher) भी सब सम्पत्ति को पूंजी मानते हैं। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार उपभोग और उत्पत्ति की वस्तुओं में केवल एक अंश का ही अन्तर होता है। अतः सभी प्रकार के धन एवं संपत्ति को पूंजी माना जा सकता है। इस मत के समर्थक निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(i) सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धन उत्पादन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है।

(ii) कई वस्तुयें निरन्तर दीर्घकाल तक सेवा या उपयोगिता प्रदान करती रहती हैं।

(iii) सम्पत्ति और पूंजी में केवल मनोवैज्ञानिक अन्तर होता है। उदाहरण के लिये एक कार यदि सवारी करने के काम में आवे तो वह सम्पत्ति है और यदि किराये पर चलाने के काम ली जावे तो पूंजी है।

उपरोक्त कारणों से कुछ अर्थशास्त्रियों ने समस्त धन या सम्पत्ति को पूंजी माना है किन्तु यह मत अधिकांश अर्थशास्त्रियों को अमान्य है। वे पूंजी का इतना व्यापक अर्थ नहीं लेते। इनके अनुसार धनोत्पत्ति में सहायक धन ही पूंजी है। यदि एक रेडियो व्यक्ति के आमोद-मनोरंजन के काम आता है तो वह पूंजी नहीं है। किन्तु यदि वह होटल पर ग्राहकों के आकर्षित करने के काम आता है तो वह पूंजी है। श्री बाम बावर्क (Boham Bawark) के अनुसार पूंजी से आशय "उत्पादित उत्पादन के साधनों" (Produced Means of Production) से लिया जाता है।

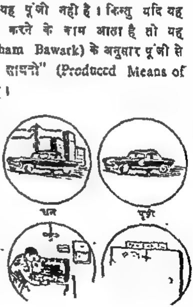

श्री ए० सी० पीगू (A. C, Pigou) ने पूंजी की तुलना एक ऐसी झील से की है जिसमें बहुत सी वस्तुयें जो बचत का फल हैं निरन्तर डाली जाती हैं। सभी वस्तुयें जो इस प्रकार झील में डाली जाती हैं अन्त में फिर इससे बाहर निकलती रहती है।

पूँजी के तत्व:—उपरोक्त विश्लेषण से पूंजी के निम्न तत्व परिलक्षित होते हैं।

(i) मनुष्य कृत (*Man made*)—पूंजी सदा ही मनुष्य कृत होती है। प्रकृति प्रदत्त उपहारों को पूंजी में सम्मिलित नहीं करते।

(ii) केवल धन ही पूँजी—पूंजी में केवल वही वस्तुयें सम्मिलित की जाती हैं जो धन हो अर्थात जिनमें उपयोगिता, सीमितता और हस्तांतरणीयता हो।

(iii) धनोत्पादन में सहायक—सब धन पूंजी नहीं होता जबकि सब पूंजी धन होता है। धन का केवल वही भाग जो उत्पादक कार्यों में लगाया जाता है पूंजी होता है।

पूंजी की विशेषतायें

(Characterstics of Capital)

उत्पत्ति के साधन के रूप में पूंजी की निम्न विशेषतायें होती हैं—

(1) मनुष्य कृत साधन (Man Made)—पूंजी मनुष्यों के प्रयत्नों का परिणाम होता है। श्रम द्वारा प्राकृतिक साधनों पर काम करने से पूंजी प्राप्त होती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि पूंजी "पिछले श्रम की संचित वस्तु" (Accumulated Product of Past Labour) है। इस प्रकार पूंजी मनुष्य कृत धन होती है।

> **पूंजी की विशेषतायें**
>
> 1. मनुष्य कृत साधन
> 2. निष्क्रिय साधन
> 3. बचत का परिणाम
> 4. गौण साधन
> 5. अस्थायी प्रकृति
> 6. अधिक गतिशील
> 7. पूर्ति में सुगमता से परिवर्तन
> 8. मूल्य ह्रास

(2) निष्क्रिय साधन (Passive Factor)—भूमि की भांति पूंजी भी उत्पत्ति का निष्क्रिय साधन है। जब तक पूंजी पर श्रम काम न करे तब

तक कुछ भी उत्पादन नहीं हो सकता। ट्रैक्टर और मशीनें स्वयमेव कुछ भी उत्पादन नहीं कर सकती हैं।

(3) बचत का परिणाम (Result of Saving)—मनुष्य श्रम उत्पादित धन को वर्तमान में उपभोग न करके उसके कुछ भाग को बचाता है। इस बचे हुए धन को जब उत्पादन उपभोग में लिया जाता है तो यह पूंजी का रूप ग्रहण कर लेता है।

(4) गौण साधन (Secondary Factor).—भूमि और श्रम उत्पादन के अनिवार्य एवं अत्याज्य साधन हैं परन्तु पूंजी के बारे में ऐसा नहीं कह सकते। यद्यपि बड़े पैमाने, श्रम विभाजन और मशीनों के उपयोग पर आधारित वर्तमान उत्पादन प्रणाली में पूंजी का भी बहुत महत्व बढ़ गया है।

(5) पूंजी अस्थाई (Non-Permanent) है:—प्रो० हैयक (Hayek) के अनुसार पूंजी अस्थायी है अर्थात उसे समय समय पर पुनरोत्पादित तथा पुनरापूरित (replenish) करना पड़ता है।

(6) अधिक गतिशील (Highly Mobile):—उत्पादन के समस्त साधनों में पूंजी सर्वाधिक गतिशील साधन है। भूमि में स्थान गतिशीलता नहीं होती। श्रम, साहस और संगठन में भी स्थान और व्यावसायिक गतिशीलता कम होती है। किन्तु पूंजी में स्थान और व्यवसायिक गतिशीलता अपेक्षाकृत अधिक होती है।

(7) पूर्ति में सुगमता से परिवर्तन (Elastic Supply):—भूमि की पूर्ति लगभग निश्चित और सीमित होती है। श्रम की पूर्ति में भी परिवर्तन आसानी और शीघ्रता से नहीं किया जा सकता। किन्तु पूंजी की पूर्ति को आसानी से और शीघ्रता से नहीं किया जा सकता। किन्तु पूंजी की पूर्ति को आसानी से और शीघ्रता से घटाया बढ़ाया जा सकता है।

(8) मूल्य ह्रास (depreciation) होता है:—पूंजी भूमि की भांति अविनाशी नहीं है। पूंजी में टूट फूट और घिसावट होती है

और उसका प्रतिस्थापन (Replacement) करना होता है। उपयोग के साथ पूंजी घटने से कम उपयोगी रह जाता है। पूंजी के इस प्रकार समय और उपयोग के साथ कम उपयोगी रह जाने या मूल्य घट जाने को ह्रास या घिसावट (depreciation) कहते हैं।

पूंजी का वर्गीकरण
(Classification of Capital)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने कार्य और प्रयोग के अनुसार पूंजी को विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है। मुख्य वर्गीकरण निम्न प्रकार है:—

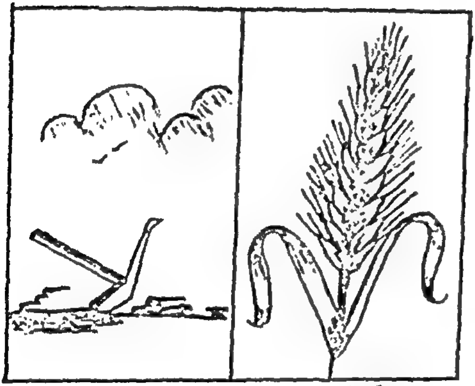

अचल पूंजी चल पूंजी

(1) अचल या चल पूंजी (Fixed and Circulating Capital) :—जो उत्पादक वस्तुयें टिकाऊ होती हैं और जिनका उत्पादन में बहुत समय तक बार बार उपयोग किया जा सकता है, अचल पूंजी कहलाती है। इसके विपरीत चल पूंजी वह होती है जिसका उत्पादन में एक बार या थोड़े समय ही उपयोग किया जा सकता है। भवन, मशीनें, हल, आदि अचल पूंजी और कच्चा माल, ईंधन आदि चल पूंजी के उदाहरण हैं। प्रो. जे. आर. हिक्स (Prof. J. R. Hicks) ने इन्हें क्रमशः स्थायी-उपयोगी उत्पादक वस्तुयें (Durable use Producers' goods)

एवं एक उपयोग उत्पादक वस्तुएं (Single Use Producer's goods) कहा है।

पूंजी का वर्गीकरण
1. अचल तथा चल पूंजी
2. एक-अर्थी तथा बहु-अर्थी पूंजी
3. उत्पादक और उपभोग पूंजी
4. वेतन और सहायक पूंजी
5. भौतिक एवं वैयक्तिक पूंजी
6 व्यक्तिगत एव सामाजिक पूंजी
7. राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी
8. देशी एवं विदेशी पूंजी

(2) एक-अर्थी पूंजी और बहु-अर्थी पूंजी (Sunk and Floating Capital)—एक अर्थी पूंजी उसे कहते हैं जिसका उपयोग केवल एक ही कार्य में किया जा सके। जैसे रेल की लाइन, बर्फ बनाने की मशीन, आदि, बह पूंजी जो एक से अधिक उपयोगों में प्रयोग की जा सकती है बहु-अर्थी पूंजी होती है जैसे कच्चा माल, कोयला, इंजन, मुद्रा, आदि। इन्हें क्रमशः विशिष्ट (Specialised) और अविशिष्ट (Un-specialised) पूंजी कहते हैं।

(3) उत्पादक और उपभोग—Productive and Consumptive Capital)—उत्पादक पूंजी वे वस्तुयें होती हैं जो प्रत्यक्ष रूप में उत्पत्ति में सहायता करती है जैसे यन्त्र, औजार, कच्चा माल, ईंधन आदि। उपभोग पूंजी में वे वस्तुयें सम्मिलित होती है जिनका प्रयोग ऐसे लोगों की प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए किया जाता है जो उत्पादन में लगे हों।

(4) वेतन पूंजी और सहायक पूंजी (Remunerative and Auxiliary Capital)—वेतन पूंजी वह पूंजी है जो उत्पादन क्रिया में संलग्न श्रमिकों को वेतन या मजदूरी के रूप में दी जाती है। सहायक पूंजी वह पूंजी है जो श्रमिकों को धनोत्पत्ति में सहायक होती है जैसे भवन, यन्त्र, कच्चा माल आदि।

(5) भौतिक एवं वैयक्तिक पूंजी (Material and Personal

पूँजी का महत्व (Importance of Capital)

आदिकाल से ही उत्पादन में किसी न किसी रूप में पूंजा का उपयोग किया जाता रहा है। यद्यपि सभ्यता और आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में पूंजी का इतना महत्व नहीं रहा है किन्तु आधुनिक युग में उत्पादन में पूंजी का अत्यधिक महत्व है। पूंजी के उपयोग के विना श्रम विभाजन, विशिष्टिकरण यांत्रिक उपयोग पर आधारित बड़े पैमाने के उत्पादन (Large scale Production based on Machine use) संभव नहीं है। पूंजी ने ही आर्थिक प्रणाली को वहुत अधिक उत्पादक और जटिल वना दिया है।

(1) पूँजी वहुमुखी उत्पादन वृद्धि का कार्य करती है—पूंजी की सहायता से उत्पादन को वहुत अधिक वढ़ाया जा सकता है। विभिन्न प्रकार की मशीनें, औजार, यंत्र आदि की सहायता से ही जो स्वयं पूंजी के रूप हैं औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है। इतनी विशाल मात्रा में औद्योगिक उत्पादन पूंजी के अभाव में असंभव हैं। कृषि उपज में वृद्धि के लिए भी पूंजी का महत्वपूर्ण स्थान है। छोटी और वड़ी सिंचाई योजनाएं, ट्रेक्टर खाद-वीज, आदि के लिए पूंजी चाहिये। उत्पादित वस्तुओं की विक्री और कच्चे माल की उपलब्धि के लिए यातायात एवं संदेश

पूँजी का महत्व
1. वहुमुखी उत्पादन वृद्धि का कार्य करती है।
2. उत्पादन में नवीन प्रक्रिया और तकनीक को संभव वनाती है।
3. वढ़ती हुई जनसंख्या को उत्पादन के यंत्र और साधन प्रदान करती है।
4. नियोजन और आर्थिक विकास के लिये आधार भूत आवश्यक है।
5. राजनैतिक स्थायित्व के लिये आवश्यक है।

वाहन के साधनों के रूप में भी पूंजी बहुत महत्वपूर्ण है। पूंजी उत्पाद के पैमाने को बढ़ाकर आन्तरिक और बाह्य मितव्ययतायें (Interna and External economics) प्रदान करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूंजी के कारण ही वर्तमान आर्थिक प्रणाली इतनी मात्रा में विविधि प्रकार की वस्तुयें उत्पन्न करने में सफल होती है।

(2) पूंजी ही उत्पादन में नवीन प्रक्रिया और तकनीक को संभव बनाती है—नवीन आविष्कारों, नई उत्पादन प्रक्रियाओं और तकनीकों का उपयोग करने से उत्पादन में वृद्धि और लागत में कमी करने का प्रयास किया जाता है। इन सब के लिए भी पूंजी आवश्यक है। तकनीकी प्रगति निश्चित रूप से पूंजी की सहचरी है।

(3) पूंजी बढ़ती हुई जन संख्या को उत्पादन के यंत्र और साधन प्रदान करती है—निरन्तर बढ़ती हुई जन संख्या के लिए उत्पाद में वृद्धि और बढ़ती हुई श्रमशक्ति को रोजगार दिलाने के लिए पूंजी का संचय और निर्माण अत्यन्तआवश्यक है। यदि इस बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ नया पूंजी विनियोग नहीं होगा तो देशवासियों को रोजगार प्रदान करने के स्त्रोत शुष्क हो जायेंगे क्योंकि कारखानों में दो या तीन पालियां ही चलाई जा सकती हैं इससे अधिक नहीं। अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने के लिए अधिक उत्पादक इकाइयां (Productive units) स्थापित की जानी चाहिए जिसके लिए पूंजी आवश्यक है।

(4) नियोजन तथा आर्थिक विकास के लिए पूंजी आधार भूत आवश्यकता है—अविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए पूंजी नितान्त आवश्यक साधन है। पर्याप्त पूंजी के द्वारा ही देश की मानव शक्ति और प्राकृतिक साधनों का पूरा पूरा विदोहन (Exploitation) और उपयोग किया जा सकता है, उद्योग और कृषि उत्पादन में वृद्धि और यातायात और संदेश वाहन के साधनों को विकसित किया जा सकता है। इस प्रकार योजनाबद्ध आर्थिक विकास के मार्ग को अपनाकर

और समय के साथ इनके खनिज पदार्थ समाप्त हो जाते हैं।

उपरोक्त कारणों से प्रोफेसर क्लार्क (Clark), फिशर (Fisher) सेलिग मेन (Seligman), वेन्हम (Benham) आदि अर्थ शास्त्री भूमि और पूंजी में भेद नहीं करते। किंतु अधिकांश अर्थ शास्त्री निम्न कारणों से भूमि और पूंजी में अन्तर करते हैं—

1. भूमि प्रकृति की देन है जबकि पूंजी में मनुष्य कृत वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है :
2, पूंजी अधिक गतिशील है जबकि भूमि स्थिर है।
3. पूंजी की मात्रा मनुष्य द्वारा घटाई बढ़ाई जा सकती है जबकि भूमि सीमित है और उसकी पूर्ति में परिवर्तन संभव नहीं है।
4. भूमि अविनाशी है जबकि पूंजी नश्वर है। इसमें ह्रास होता है।
5. पूंजी के प्राप्त करने के लिए समाज तथा व्यक्ति दोनों को कुछ न कुछ लागत चुकानी पड़ती है जबकि भूमि प्राप्त करने के लिए सामाजिक दृष्टिकोण से कोई लागत नहीं होती है।

यद्यपि स्थायी–उपयोगी उत्पादक वस्तुओं के उपरोक्त दोनों वर्गों में कुछ बातों में समानता है किंतु इन दोनों में कुछ आधारभूत अन्तर भी है। इसी कारण अधिकांश अर्थशास्त्री पूंजी तथा भूमि को दो पृथक साधन मानते हैं।

इसी प्रकार एक-उपयोगी उत्पादक वस्तुओं (Single use Producers' goods) को भी दो भागों में विभाजित किया जाता है। प्रथम वर्ग में वे वस्तुयें हैं जिनको वास्तव में उत्पत्ति में उपयोग किया जा रहा है जिन्हें हम निर्माण प्रक्रिया के पदार्थ (goods in Process) कहते हैं। दूसरे वर्ग में वे एक-उपयोगी पदार्थ आते हैं जिनका तत्काल उत्पादन में उपयोग नहीं किया जा रहा है यद्यपि उनकी पहले उत्पत्ति की गई है। और बाद में भी उनके उत्पादन में प्रयुक्त किये जाने की आशा है। इन्हें रक्षित संग्रह (Reserve stocks) कहते हैं। इस

प्रकार पूंजीगत पदार्थों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

- पूंजीगत पदार्थ (Capital goods)
  - स्थायी उपयोगी पदार्थ (Durable use goods)
    - भूमि (Land)
    - स्थिर पूंजी (Fixed Capital)
  - एक उपयोगी पदार्थ (Single-use goods)
    - कार्यशील पूंजी (Working Capital)
    - रक्षित संग्रह (Reserve Stock)

आर्थिक स्थायित्व और पूंजीगत वस्तुयें (Economic Stability and Capital goods)

आर्थिक स्थायित्व (Economic Stability)—आर्थिक स्थायित्व का आशय आर्थिक क्रियाओं जैसे उत्पादन, आय, रोजगार एवं मूल्यों के स्तर में नियमितता, निरन्तरता और स्थायित्व से है। आर्थिक स्थायित्व में साधनों और श्रमिकों में बेकारी (Unemployment) नहीं होता है। तेजी मन्दी के व्यापार चक्र (trade cycles), अधिक और न्यून उत्पादन (over and under production) मूल्यों में भारी उतार चढ़ाव और श्रमिकों की बेरोजगारी से ग्रसित अर्थ व्यवस्था अस्थिर (Unstable) होती है। उस आर्थिक स्थिति को आर्थिक स्थायित्व प्राप्त अर्थ व्यवस्था कहते हैं जिसमें उत्पादन, आय, रोजगार स्तर में अनियमित और भारी परिवर्तन न हों बल्कि इसमें रूप से आवश्यक वृद्धि हो। किसी भी देश के लिए आर्थिक त्यन्त आवश्यक है। इसकी अनुपस्थिति में दि हतोत्साहित होते हैं और आर्थिक

जाती है। ऐसी स्थिति में समाज के विभिन्न वर्गों को भिन्न भिन्न परिणाम भुगतने पड़ते हैं जो न्यायोचित नहीं है।

स्थिर पूंजीगत वस्तुयें और आर्थिक स्थायित्व (Fixed Capital goods and economic stability)—पूंजीगत वस्तुओं का आर्थिक स्थायित्व से गहरा सम्बन्ध है। इनके उपयोग और उत्पादन में अचानक परिवर्तन आर्थिक स्थायित्व को बाधा पहुँचाते हैं। स्थिर पूंजी पदार्थों की एक विशेपता प्रति वर्ष इनकी टूट-फूट और घिसावट होती है। किन्तु इनकी पूर्ति और प्रतिस्थापना के लिए नई पूंजीगत वस्तुयें बनाई जा सकती हैं। स्थिर पूंजी या स्थायी-उपयोगी उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन करने वाले उद्योगों को निर्माण उद्योग (consturctional trades) कहते हैं। इन उद्योगों का कार्य नई स्थिर पूंजी का निर्माण करना और जीर्ण-शीर्ण पूंजी का प्रतिस्थापन करना है। इन उद्योगों के उत्पादन में नियमितता इस वर्ग की वस्तुओं की मांग और उसके प्रसार (Expansion) की नियमितता पर निर्भर करती है। किन्तु वास्तविक संसार में मांग और उसके प्रसार में नियमितता नहीं पाई जाती है। जनसंख्या में अनियमित वृद्धि, आविष्कार, आवश्यकताओं में परिवर्तन राजनीतिक उथल-पुथल, भावी लाभ का अनुमान, आदि कई कारण इन उद्योगों की मांग में अचानक कमी या वृद्धि कर देते हैं। यदि मांग में कमी होती है तो मूल्य गिरते हैं, लाभ कम होते हैं या हानि होने लगती है कारखाने बन्द होते हैं या स्थापित क्षमता से निम्न स्तर पर कार्य करते हैं। इससे श्रमिकों और अन्य साधनों में बेकारी फैलती है। यदि किसी आकस्मिक कारण से मांग बढ़ जाती है जैसे युद्ध आरम्भ होने या किसी वस्तुओं में पूंजीगत वस्तुओं की अधिक प्रतिस्थापन (replacement) आवश्यकता के कारण तो इन कारणों के दूर होने पर फिर से कारखानों का उत्पादन कम करना पड़ता है और इस प्रकार साधनों और श्रमिकों की बेकारी और आर्थिक अस्थिरता को जन्म मिलता है एवं मन्दी का दौर शुरू हो जाता है। यही परिणाम उस समय प्रकट होते हैं। जबकि उत्पादक वास्तविकता से अधिक मांग वृद्धि का अनुमान लगाकर उत्पादन योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं।

जब मन्दी और बेकारी का क्रम शुरू होता है तो निर्माण उद्योगों पर सर्वाधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। धीरे धीरे यह अन्य उद्योगों को भी प्रभावित करता है क्योंकि जब निर्माण उद्योगों में मन्दी आता है तो इन उद्योगों में लगे हुए व्यक्ति बेकार हो जाते हैं और उनके पास व्यय करने का आय नहीं रहती। इससे अन्य उद्योगों की मांग भी कम हो जाती है और उनमें भी मन्दी और श्रमिकों की छंटनी शुरू हो जाती है। यह बेकारी और मन्दी की प्रवृत्ति देश की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहती। अधिकांश व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग आयात किये हुए (Imported) पदार्थों पर व्यय करते हैं। यदि पूर्ण रूप से स्वदेश में निर्मित माल ही खरीदा जाता हो तब भी सम्भव है इसके निर्माण में विदेशी कच्चा माल, मशीनें या तकनीकी ज्ञान का उपयोग किया गया हो। बेकारी और मन्दी की दशा में दोनों ही प्रकार के आयातित माल को कम खरीदा जायगा। परिणाम स्वरूप निर्यात करने वाले देश में भी मन्दी और बेकारी का प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार की समस्याओं से बचने का एक मात्र उपाय इन निर्माण उद्योगों के उत्पादन की निरन्तरता बनाये रखना है।

चल पूंजी और आर्थिक स्थायित्व—एक उपयोगी उत्पादक वस्तुओं में से कुछ ऐसी होती हैं जिन्हें उत्पादक अपने पास रक्षित संग्रह (Reserve stock) में रखते हैं। यदि उपभोक्ताओं की मांग और उत्पादन की मात्रा सदैव समान रहे या इनमें नियमित परिवर्तन हो तो अधिक मात्रा में संग्रह की आवश्यकता नहीं होगी। उपभोक्ताओं और व्यापारियों की इन वस्तुओं की मांग की ठीक प्रकार से पूर्ति करने के लिए इन वस्तुओं का संग्रह करके रखना पड़ता है क्योंकि उत्पादकों को इनकी मांग का निश्चित ज्ञान नहीं होता है। व्यापारियों और उत्पादकों द्वारा बनाये गये स्टाक कच्चे माल के उत्पादकों और इनको उत्पादन के
लिये वाले व्यक्तियों तथा उपभोक्ताओं के बीच बफर
stock) का काम करते हैं और इनकी मात्रा में,
किसी इनकी मांग के विस्तार या [illegible] की

संग्रह रखने के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक प्रभाव कच्चे माल के उत्पादन में अस्त व्यस्तता के कारण होते हैं।

गेहूँ, कपास, जूट, आदि कुछ कृषि पदार्थों की उपज वर्ष के किसी निश्चित समय में ही प्राप्त होती है यद्यपि उनकी वर्ष भर निरन्तर आवश्यकता रहती है। अतः बड़ी मात्रा में इनका संग्रह आवश्यक है। किन्तु इस प्रकार के संग्रह की भी अपनी समस्यायें होती हैं। यदि एक वर्ष बहुत अच्छी फसल होती है तो लोग उसे इस आशा से संग्रह कर सकते हैं कि अगले वर्ष कम फसल हो सकती है। किन्तु निरन्तर दूसरी और तीसरी अच्छी फसलें इस संग्रह को अधिक कठिन और महंगा बना देती हैं और कृषकों को उत्पादन में कमी करने का संकेत देती हैं जिसका परिणाम बेकारी होता है। अतः एक उपयोगी उत्पादक वस्तुओं के रक्षित संग्रह की मात्रा में परिवर्तन इन वस्तुओं के उत्पादक उद्योगों से आर्थिक स्थायित्व को जन्म देते हैं।

सारांश

पूंजी का अर्थः—पूंजी मनुष्य कृत धन का वह भाग है जो और अधिक धन उत्पादन में प्रयुक्त किया जाता है। प्रो. चेपमेन के शब्दों में पूंजी वह धन है जो आय प्रदान करता है अथवा आय के उत्पादन में सहायक होता है अथवा जिसके "इस प्रकार उपयोग करने की इच्छा होती है।" कुछ अर्थ शास्त्री समस्त धन को पूंजी मानते हैं। किन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री धनोत्पत्ति में सहायक संपत्ति को ही पूंजी में सम्मिलित करते हैं।

पूंजी के तत्वः—(*i*) मनुष्य कृत धन (*ii*) केवल धन ही पूंजी (iii) धनोत्पादन में सहायक धन ही पूंजी।

पूंजी की विशेषतायें:—(i) मनुष्य कृत साधन (ii) निष्क्रिय साधन (iii) बचत का परिणाम (iv) गौण साधन (v) अस्थायी प्रकृति (vi) अधिक गतिशील (vii) पूर्ति में सुगमता से परिवर्तन (viii) मूल्य में ह्रास।

पूंजी का वर्गीकरणः—(*i*) अचल या चल पूंजी (*ii*) एक-अर्थी

तथा बहु-अर्थी पूंजी (iii) उत्पादक तथा उपभोग पूंजी (iv) वेतन और सहायक पूंजी (v) भौतिक एवं वैयक्तिक पूंजी (vi) व्यक्तिगत एवं समाजिक पूंजी (vii) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी (vii) देशी एवं विदेशी पूंजी।

पूंजी के कार्य.—(i) जीवन निर्वाह के लिए व्यवस्था (ii) माल आदि का प्रबन्ध (iii) उत्पादन में निरंतरता (iv) श्रम की उत्पादकता में वृद्धि (v) बिक्री की व्यवस्था।

पूंजी का महत्व:—(i) बहुमुखी उत्पादन में वृद्धि करती है (ii) उत्पादन में नवीन प्रक्रिया व तकनीक को संभव बनाती है। (iii) बढ़ती हुई जन-संख्या को उत्पादन के यन्त्र और साधन प्रदान करती है। (iv) नियोजन और आर्थिक विकास के लिए आधारभूत आवश्यकता है। (v) राजनीतिक स्थायित्व के लिए आवश्यक है।

पूंजीगत वस्तुयें:—जिन वस्तुओं का उपयोग आवश्यकताओं की अप्रत्यक्ष संतुष्टि के लिए किया जाता है उन्हें उत्पादक वस्तुयें कहते हैं। अर्थशास्त्र में इन्हें पूंजीगत वस्तुयें कहते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—एक उपयोगी वस्तुयें और स्थायी उपयोग वस्तुयें। स्थायी-उपयोग वस्तुओं को भी दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—प्रथम भूमि और द्वितीय स्थिर पूंजी। इसी प्रकार एक-उपयोग पदार्थों को भी दो भागों में विभाजित कर सकते हैं एक कार्यशील पूंजी और द्वितीय रक्षित समूह।

आर्थिक स्थायित्व और पूंजीगत वस्तुयें—आर्थिक क्रियाओं जैसे उत्पादन, आय, रोजगार एवं मूल्यों के स्तर में नियमितता, निरंतरता और भारी उतार चढ़ाव नहीं होने तथा बेकारी की अनुपस्थिति को आर्थिक स्थायित्व कहते हैं। स्थिर और चल पूंजी दोनों की माग में उतार चढ़ाव अर्थव्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न कर देते हैं और बहुधा मंदी पैदा करके श्रमिकों और साधनों में बेकारी उत्पन्न कर देते हैं।

प्रश्न

1. पूंजी से आप क्या समझते हैं ? पूंजीगत पदार्थ किसे कहते हैं ? इनके विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिये ।
2. पूंजी के कार्य बतलाते हुए आधुनिक अर्थव्यवस्था में इसका महत्व निर्धारित कीजिये ।
3. आर्थिक स्थायित्व से आप क्या समझते हैं ? पूंजागत पदार्थ आर्थिक स्थायित्व को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ?
4. पूंजी की विशेषतायें बतलाइये । विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने पूंजीं का किस प्रकार वर्गीकरण किया है ।
5. (अ) भूमि और पूंजी, (ब) पूंजी तथा धन और (स) चल तथा अचल पूंजी में क्या अन्तर है ?

   (दिल्ली बोर्ड, हा० से०, 1953, 54, 63)
6. टिप्पणियाँ लिखिये—(I) अचल पूंजी तथा चल पूंजी (ii) उत्पादक तथा उपभोग पूंजी (iii) विदेशी पूंजी तथा पूंजी के लक्षण । (म. प्र. बोर्ड, इण्टर, 1960 तथा 1962)
7. पूंजी की परिभाषा दीजिये । चल और अचल पूंजी का भेद समझाइये । (राज. बोर्ड, हा० से०, 1964)
8. पूंजी से आप क्या समझते हैं ? पूंजी के उत्पादन में क्या कार्य है ?

   (राज० बोर्ड, हा० से०, 1966)

9 मुद्रा और मौद्रिक नीति

MONEY AND MONETARY POLICY

"समस्त मानवीय और दैवी वस्तुएं, स्थिति, और सम्मान, मुद्रा के मन्दिर के सामने सिर झुकाती हैं।"

—कवि होरेस

आजकल हम प्रत्येक वस्तु मुद्रा लेकर बेचते और मुद्रा देकर क्रय करते हैं। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में मुद्रा का विनिमय में उपयोग नहीं किया जाता था। उस समय वस्तु विनिमय (Barter) प्रणाली थी। किन्तु विनिमय की इस प्रणाली से कई कठिनाइयों को दूर करने के लिए मनुष्य ने एक ऐसी वस्तु का आविष्कार किया जिसे हर वस्तु के बदले में स्वीकार किया जाने लगा, जिसके द्वारा ही अन्य वस्तुओं का मूल्य मापा जाने लगा, तथा जिसके द्वारा मूल्य को सुगमता से उप-विभाजित एवं संचित किया जा सकता था। यही मध्य वस्तु मुद्रा या द्रव्य (Money) कहलाई। भिन्न-भिन्न वस्तुओं ने भिन्न-भिन्न समय और स्थानों पर मुद्रा का कार्य किया है। आखेट युग में जानवरों की खाल मुद्रा के रूप में प्रयुक्त की गई। चरागाह युग में गाय, भेड़ आदि पशु तथा कृषि अवस्था में अन्न, सूती वस्त्र, नमक आदि मुद्रा का काम लिया गया। चीन में अफीम का प्रयोग इस कार्य के

किन्तु इन सभी प्रारम्भिक वस्तुओं में मुद्रा के

गये। अतः कालान्तर में धातु, विशेष

प्रयोग किया जाने लगा। आधुनिक युग में पत्र मुद्रा या कागजी नोट मुद्रा का कार्य सुविधा और मितव्ययिता पूर्वक निवाह रहे हैं।

मुद्रा की परिभाषा

विभिन्न अर्थ शास्त्रियों ने मुद्रा को भिन्न भिन्न प्रकार से परिभाषित किया हैं। कुछ अर्थ शास्त्रियों ने मुद्रा का संकुचित अर्थ लिखा हैं। संकीर्ण अर्थ में मुद्रा का अभिप्राय: केवल धातु मुद्रा (Metallic Money) या धातु के सिक्कों से है। कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा को व्यापक अर्थों में प्रयोग करते हैं और विनिमय के सब प्रकार के साधनों को मुद्रा मानते हैं। उनके अनुसार धातु के सिक्के, पत्र मुद्रा अर्थात् करेंसी नोट और साख मुद्रा अर्थात् चैंक, बिल आफ एक्सचैंज, हुण्डी, आदि सभी मुद्रा हैं। किन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री इन दोनों के बीच मध्य मार्ग का अवलम्बन करते हुए मुद्रा में धातु के सिक्के और पत्र मुद्रा को ही

सम्मिलित करते हैं। उचित मत भी यही है। मुद्रा वास्तव में वह वस्तु है जो ऋणों के अन्तिम भुगतान में बिना किसी सन्देह के स्वीकार की जाती हो। चैक, विनिमय बिल, हुण्डी आदि को स्वीकार करना न करना ऐच्छिक है। इनकी स्वीकृति कानून द्वारा बाधित नहीं होती है। इनका आदान-प्रदान केवल परिचित व्यक्तियों में हो होता है। ये सर्व मान्य नहीं होते। इन्हें मुद्रा में सम्मिलित करना उचित नही है। किन्तु धातु के सिक्के और कागजी नोट स्वतन्त्रतापूर्वक एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाते आते हैं और ऋणों के अन्तिम भुगतान में स्वीकार किये जाते हैं। अतः इन्हें हम मुद्रा मे सम्मिलित करते हैं उपरोक्त चित्र मुद्रा के तीनो अर्थों को स्पष्ट करता है।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। नीचे कुछ प्रमुख परिभाषायें दी हुई हुई हैं—:

1. श्री हार्टले विदर्स (Hartley Withers)—मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे। ("Money is what money does".)

2. प्रो.ऐली (Prof. Ely)—कोई भी वस्तु जो विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक एक हाथ से दूसरे हाथ में गुजरती है और साधारणतया ऋणों के अन्तिम भुगतान मे स्वीकार की जाती है, मुद्रा है।"

3. श्री डी. एच. राबर्टसन (D. H. Robertson)—द्रव्य ऐसी वस्तु का द्योतक है जो माल के बदले में या अन्य प्रकार के व्यापारिक उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिए ग्रहण की जाती है।"

4. श्री ज्योफरी क्राउथर (Geoffry Crowther)—"मुद्रा ऐसा विनिमय का माध्यम है अर्थात जो ऋणों के भुगतान का साधन है। यह एक ऐसी वस्तु है जो ऋण के लेन-देन में सामान्यतः स्वीकार की जाय, जो वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन करे तथा जो मूल्य संचय का कार्य करे।"

5. श्री केन्ट (Kent)—मुद्रा वह कोई वस्तु है जिसे

एक कदम पर विकास हो चुका है । ये कार्य मुद्रा के मुख्य कार्यों से ही उत्पन्न होते हैं । सहायक कार्य निम्न हैं—

(1) स्थगित भुगतान करने का साधन (Means of Deferred Payment)—मुद्रा का प्रयोग उन लेन देनों में किया जाता है जिनमें कि भुगतान स्थगित कर दिया गया हो । वस्तु विनिमय प्रणाली में वस्तुओं को वापस करते समय वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होता था और असुविधा का सामना होती थी । किन्तु आजकल सब मुद्रा में ऋण चुकाया जाता है । भविष्य में भुगतान के बारे में, ब्याज, कर्ज का लेनदेन वस्तुओं के रूप में ही नहीं हो सकते क्योंकि इनके मूल्य बदलते रहते हैं । अतः ये कार्य सुगम हो जाते हैं क्योंकि मुद्रा में सर्व मान्यता, टिकाऊपन और मूल्य में अपेक्षाकृत स्थिरता होती है ।

(2) मूल्य या क्रय शक्ति का संचय (Store of Value)—मनुष्य चाहता है कि जो कुछ वर्तमान में आय उसकी हो सभी खर्च नहीं की जाय और कुछ बचा ली जाय । मुद्रा के पूर्व मनुष्य के पास अपनी बचत और क्रयशक्ति को संचय करने का कोई साधन नहीं था क्योंकि वस्तुओं के रूप में संचय करने से इनके शीघ्र खराब होने का भय रहता है इनके मूल्य में भी परिवर्तन अधिक होते रहते हैं । किन्तु मुद्रा के आविष्कार से मूल्य या क्रयशक्ति का संचय सरल हो जाता है ।

(3) मूल्य का हस्तांतरण (Transfer of Value)—मुद्रा के पूर्व मूल्य का स्थानान्तरण बड़ा कठिन था । सम्पत्ति को लिये फिरना कठिन ही नहीं असम्भव होता है । किन्तु आजकल अपनी सम्पत्ति को बेचकर मुद्रा प्राप्त करके वह कहीं भी जा सकता है । अब द्रव्य मूल्य या विनिमय शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को देने का सुगम व सस्ता साधन है क्योंकि इसमें वहनीयता होती है ।

(स) आकस्मिक कार्यः—आर्थिक जीवन के विकसित होने के साथ-साथ मुद्रा कुछ निम्न अन्य कार्य भी करती है । जो निम्न लिखित हैं—

1. राष्ट्रीय आय के वितरण का आधार:—आधुनिक युग उत्पत्ति के कई साधन मिलकर सामूहिक रूप से उत्पादन करते हैं। इस सामूहिक उत्पत्ति को उत्पादन में सहायता देने वालों में बाँटना आवश्यक है। मुद्रा ने संयुक्त उत्पत्ति के इस वितरण को बहुत सुगम बना दिया है क्योंकि उत्पादित वस्तु को बाजार में बेचकर मुद्रा प्राप्त कर ली जाती है। मुद्रा के रूप मे प्रत्येक व्यक्ति की सेवा का सही-सही मूल्यांकन भी किया जा सकता है।

2. साख का आधार (Basis of credit)—आधुनिक अर्थव्यवस्था मे साख का अत्यधिक महत्व है। इस साख की आधार शिला मुद्रा ही है। मुद्रा के आधार पर ही बैंक आदि संस्थायें बहुगुणी साख का सृजन करती हैं।

3. अधिकतम संतुष्टि का साधन (Maximum Satisfaction)-मुद्रा का क्रय शक्ति है। इसका इच्छित अंशों में विभाजन सम्भव है। अतः मनुष्य मुद्रा की सहायता से अपने व्यय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करता है। उपभोक्ता की तरह उत्पादकों के लिए भी मुद्रा द्वारा ही यह सम्भव हो सका है कि वे उत्पत्ति के विभिन्न साधनो से अधिकतम उत्पादन और लाभ प्राप्त कर सकें।

4. पूंजी की गतिशीलता में सहायक—पहले पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान और एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे आने जाने में बड़ी कठिनाई होती थी। मुद्रा ने इन समस्या को हल कर दिया है। आज-कल द्रव्य के द्वारा पूंजी में स्थान और व्यावसायिक गतिशीलता में वृद्धि हो गई है।

5. धन को तरल रूप प्रदान करना—जिस प्रकार द्रव पदार्थ को जिस बर्तन मे रखते हैं वैसा ही रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार मुद्रा के रूप मे रखी गई सम्पत्ति अपने स्वामी की इच्छानुसार किसी भी रूप में बदली जा सकती है। इस प्रकार मुद्रा ने धन को समान और

तरल रूप दिया है। अपनी शोधन क्षमता बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति या फर्म को अपने पास तरल रूप में कुछ न कुछ मुद्रा अवश्य रखनी पड़ती है।

6. अपने स्वामी को निर्णय का अधिकार देती है:—मुद्रा पास में होने का अर्थ है 'क्रय शक्ति' का होना जिसे मुद्रा का स्वामी भविष्य में इच्छानुसार उपयोग में ला सकता है।

अंग्रेजी की निम्न कविता में मुद्रा की क्रियाओं का एक साथ स्पष्टीकरण है।

Money is a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store
In addition a source of credit and distribution
and makes mobility and transferability more

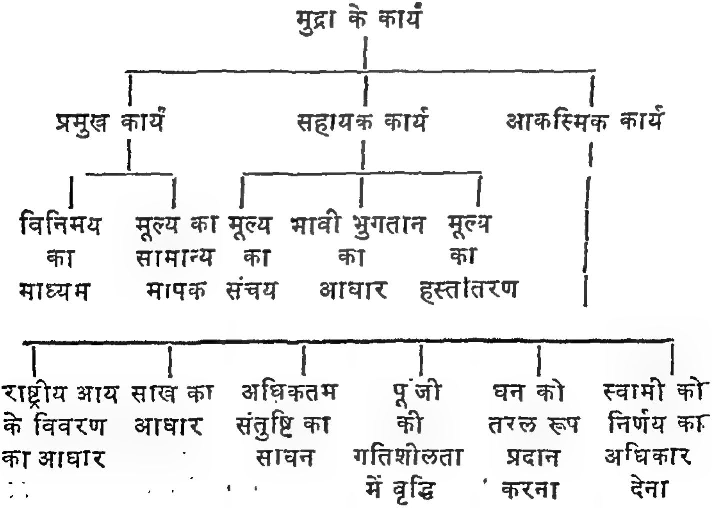

मुद्रा का महत्व (Importance of Money)

आधुनिक युग मुद्रा का युग है। मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मुद्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुद्रा के द्वारा ही आर्थिक प्रगति, उद्योग, विज्ञान, कला के विकास को प्रोत्साहन मिला है। उपभोग, उत्पादन विनिमय, वितरण, आदि सभी क्षेत्रों में द्रव्य ने विभिन्न कठिनाईयों को दूर करके इनको प्रगति प्रदान की है। द्रव्य ने संपत्ति के संचय तथा पूंजी निर्माण (Capital formation) को संभव व सरल बनाया है। द्रव्य के कारण सौदा करने में स्वतंत्रता आई है, प्रतियोगिता का उदय हुआ है। आवागमन के साधनों की उन्नति हुई है और रीति रिवाज और परम्पराओं के स्थान पर संविदा (Contract) की प्रतिस्थापना हुई है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल के शब्दों में "मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थशास्त्र केन्द्रित है।" यदि संसार की तुलना एक विशाल मशीन से की जाय तो यह कहना अनुचित न होगा कि मुद्रा वह तेल है जिससे यह मशीन चालू है। प्रो० क्राउथर के अनुसार "मुद्रा ही वह आधारभूत आविष्कार है जिस पर शेष सभी कुछ आधारित है।" जैसा कि प्रो० जेवन्स ने कहा है कि हम अपने जीवन के आरम्भ से ही मुद्रा को देखते और प्रयोग करते आये हैं इसलिये हमें मुद्रा के वास्तविक महत्त्व और लाभों का अनुभव नहीं हो पाता। यदि हम उस समाज की कठिनाइयों की कल्पना करें जिसमें मुद्रा नहीं थी तो हमें मुद्रा के वास्तविक महत्व का पता लग जायगा।

मुद्रा के लाभ—वर्तमान युग में मुद्रा के लाभ निम्नलिखित हैं:—

(1) वस्तु विनिमय प्रणाली के दोषों से मुक्ति:—मुद्रा के उपयोग से पूर्व वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन था। इस प्रणाली में कई कठिनाइयाँ थी जैसे आवश्यकताओं के दुहरे संयोग की कमी, मूल्य के सर्वमान्य मापक का अभाव, वस्तुओं के विभाजन और धन के संचय और स्थानान्तरण के साधन का अभाव आदि। इनके कारण कार्य में बहुत बाधा होती थी और विनिमय थोड़े से क्षेत्र में था। अब मुद्रा के प्रयोग ने इन सब कठिनाइयों

मुद्रा विनिमय के कारण दो व्यक्तियों की लेन-देन की वस्तुओं के पारस्परिक संयोग की आवश्यकता नहीं रहती। मुद्रा द्वारा वस्तुओं के मूल्य को सरलता से मापा जा सकता है। वस्तुओं के विभाजन, मूल्य के संचय और हस्तांतरण तथा ऋणों के भुगतान के मान का कार्य मुद्रा बड़ी अच्छी प्रकार करती है।

मुद्रा के लाभ
1. वस्तु विनिमय प्रणाली के दोषों से मुक्ति
2. उत्पादन और राष्ट्रीय आय में वृद्धि
3. समाज की आर्थिक प्रगति की सूचक है।
4. साख और पूंजी का आधार
5. पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का आधार
6. उपभोक्ताओं को लाभ
7. उत्पादकों को लाभ
8. मुद्रा सामाजिक स्वतंत्रता प्रदान करती है
9. राजनीतिक चेतना और स्वतंत्रता को बढ़ावा
10. पृथकता को समाप्त करती है।

उत्पादन और राष्ट्रीय आय में वृद्धि—मुद्रा ने पूंजी और श्रम को अधिक गतिशील बनाकर औद्योगिक विकास में सहायता दी है। मुद्रा ने वस्तु विनिमय की असुविधाओं को समाप्त कर विनिमय की मात्रा और क्षेत्र में वृद्धि की है। वस्तुओं का आदान प्रदान बढ़ने और बाजारों का विस्तार होने से उत्पादन बढ़ता है। मुद्रा के कारण ही श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण, मशीनों का उपयोग और बड़े पैमाने पर उत्पत्ति सम्भव हुई है परिणाम स्वरूप उत्पादन और राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है।

(3) मुद्रा समाज की आर्थिक प्रगति का सूचक है—किसी भी देश के आर्थिक विकास का उस देश की विनिमय प्रणाली से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अतः किसी देश की कितनी आर्थिक प्रगति हुई है इस बात की झलक उसकी मौद्रिक व्यवस्था में स्पष्ट होती है।

(4) साख और पूंजी का आधार—मुद्रा के आधार पर ही साख का निर्माण किया जाता है जिसके बिना उद्योग, व्यापार, आदि का इतना विकास संभव नहीं था। पूंजी निर्माण और पूंजी का सचय मुद्रा ने ही संभव बनाया है।

(5) पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का आधार है—पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था लाभ (Profit) पर आधारित है। इस प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति लाभ की भावना से ही आर्थिक क्रियाओं में संलग्न रहता है। लाभ ऐसी ही अर्थ व्यवस्था मे प्राप्त और संचय किया जा सकता है जिसमें मुद्रा का प्रयोग किया जाता हो।

(6) उपभोक्ताओं को लाभ—मुद्रा के उपयोग से श्रम विभाजन, यन्त्रों का उपयोग और बड़े पैमाने पर उत्पत्ति संभव हुई है। इससे उपभोक्ताओं को विविध प्रकार की सस्ती वस्तुयें बहुत बड़ी मात्रा में सुलभ हुई हैं। इसके अलावा मुद्रा के प्रयोग द्वारा उपभोक्ता सम सीमान्त उपयोगिता नियम का अनुसरण करते हुए अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने में सफल होते हैं।

(7) उत्पादकों को लाभ—मुद्रा के प्रयोग से इन्हे उत्पत्ति के साधनों को जुटाने मे सहायता मिलती है। प्रतिस्थापन नियम का अनुसरण करते हुए उत्पादक, साधनों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने में सफल होते हैं। मुद्रा के आधार पर मजदूरों को पारश्रमिक देने की प्रेरणात्मक पद्धतियों का प्रयोग संभव होता है। मुद्रा ने संयुक्त उत्पत्ति के वितरण को भी सरल बना दिया है।

(8) मुद्रा सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है:—मुद्रा के आविष्कार के पूर्व मजदूरी का भुगतान वस्तुओं में करना पड़ता था। ये वस्तुयें खराब भी होती थीं। मुद्रा से अब यह दोष दूर हो गया है। मुद्रा ने पुराने रीति रिवाज और हैसियत (Status) के अनुबन्ध (Contract) करने की स्वतंत्रता और tection) की स्थापना की है जिससे किसानों और

को समाप्त करने में सहायता मिली है। मुद्रा ने मनुष्यों को सामाजिक और आर्थिक दासता से मुक्ति दिलाई है।

(9) **राजनीतिक चेतना और स्वतन्त्रता को बढ़ावा दिया है:**—सरकार अपना कार्य चलाने के लिए जनता से मुद्रा के रूप में कर लेती है। इससे कर दाताओं में राजनीतिक जागृति उत्पन्न होती है।

(10) **मुद्रा पृथकता को समाप्त करती है:**—मुद्रा प्रणाली में आत्मनिर्भरता का स्थान परस्पर निर्भरता ले लेती है। विशिष्टीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों का विकास होता है। जिससे पृथकता समाप्त होती है और विभिन्न व्यक्ति, गांव, नगर, प्रदेश और राष्ट्र एक दूसरे पर निर्भर हो जाते हैं। परिणाम स्वरूप इनमें सम्पर्क एवं सहयोग बढ़ता है।

किन्तु मुद्रा अमिश्रित वरदान (Unmixed blessing) नहीं है। मुद्रा में कई दोष भी होते हैं। मुद्रा के मूल्य में कभी कभी परिवर्तन होते हैं जिससे समाज के विभिन्न वर्गों को हानि उठानी पड़ती है। मुद्रा के कारण धन की असमानता, ऋण ग्रस्तता और नैतिक पतन में वृद्धि हुई है। किन्तु मुद्रा के ये दोष स्वयं मुद्रा के दोष न होकर उसके दुरुपयोग और उचित प्रबन्ध नहीं होने के दोष हैं। यदि मनुष्य मुद्रा को सावधानी से उपयोग में लावे तो इसके प्रयोग से होने वाली बुराइयाँ अपने आप समाप्त हो जाती हैं। अतः स्पष्ट है कि मुद्रा का आधुनिक अर्थ व्यवस्था में अत्यधिक महत्व है। इसके अभाव में विश्व की वर्तमान प्रगति असम्भव थी।

मुद्रा की मात्रा और उसका प्रभाव
(Quantity of Money and its effects)

मुद्रा की मात्रा:—मुद्रा की मात्रा से आशय एक देश या समाज में किसी समय पर वर्तमान कुल मुद्रा के योग से है। मुद्रा की उपरोक्त परिभाषा के आधार पर मुद्रा की मात्रा किसी देश में प्रचलित कुल धातु मुद्रा और पत्र मुद्रा के योग के बराबर होती है। किसी देश के

मौद्रिक अधिकारी (Monetary Authorities) यथा सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा किसी समय पर निर्गमित कुल चलन की मात्रा को मुद्रा कहते हैं। व्यापक अर्थ में मुद्रा की मात्रा का आशय उन सभी वस्तुओं के योग के बराबर होता है जो विनिमय के माध्यम के रूप में या वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय के काम में आते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार बैंक मुद्रा या साख मुद्रा भी मुद्रा की मात्रा में सम्मिलित मानी जानी चाहिए।

मुद्रा की मात्रा का प्रभाव—किसी देश के आर्थिक जीवन में उस देश की कुल मुद्रा या द्रव्य की मात्रा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में किसी देश में मुद्रा का मूल्य या वस्तुओं का मूल्य स्तर (Price level) एक हद तक उस देश में उपलब्ध मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करता है। समाज में मुद्रा की मात्रा बढ़ाने के साथ-साथ मुद्रा का मूल्य गिर जाता है, वह अपने बदले में पहले से कम वस्तुयें क्रय कर पाती है और इस प्रकार मूल्य स्तर बढ़ जाता है। इसके विपरीत यदि मुद्रा की मात्रा में कमी की जाती है तो मुद्रा का मूल्य (Value) बढ़ जाता है। वह पहले से अधिक वस्तुयें और सेवायें खरीद सकती है और इस प्रकार मूल्य स्तर गिर जाता है। उदाहरणार्थ यदि दस वस्तुयें हों और उन्हें खरीदने के लिए दस ही रुपये हों तो एक वस्तु का मूल्य एक ही रुपया होगा। यदि रुपये दुगुने अर्थात् बीस हो जाय तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य दो रुपया हो जायगा। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य आधा रह गया और वस्तुयें महंगी हो जायेंगी। इसके विपरीत यदि दस के बजाय पाँच ही रुपये रह जाते हैं तो वस्तु का औसत मूल्य आठ आने रह जायगा और मुद्रा का मूल्य या क्रयशक्ति दुगनी हो जायगी। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा की मात्रा में कमी या वृद्धि के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्यों में कमी या वृद्धि होती रहती है। श्री मिल (J. S. Mill) के अनुसार "यदि अन्य बातें समान रहे तो जिस दिशा में मुद्रा का बढ़ता है ठीक उसकी विपरीत दिशा में मुद्रा का मूल्य बढ़ता है।"

मूल्य स्तर पर मुद्रा की मात्रा के अतिरिक्त उसका चलन गति (Velocity of circulation) का भी प्रभाव पड़ता है। आपके पास से निकला हुआ एक रुपया एक दिन में न जाने कितने हाथ बदलता है यदि वह दस बार लेन देन में प्रयुक्त हुआ तो उसका चलन वेग दस हुआ और उसने दस रुपयों का कार्य किया। इस प्रकार मूल्यों में परिवर्तन मुद्रा की मात्रा और उसके वेग के परिवर्तन पर निर्भर करते हैं। इसी निष्कर्ष के आधार पर मुद्रा का परिमाण सिद्धांत (Quantity theory of Money) विकसित हुआ है। इर्विंग फिशर ने इसी तथ्य को निम्न समीकरण द्वारा स्पष्ट किया है जिसका आशय है कि मूल्य स्तर में परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के अनुपात में होते हैं।

$$\text{सामान्य मूल्य} = \frac{\text{मुद्रा} \times \text{मुद्रावेग} + \text{साख मुद्रा} \times \text{साख मुद्रा वेग}}{\text{व्यापारिक लेन देनों की संख्या}}$$

मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन का मूल्य परिवर्तन पर प्रभाव भारतीय उदाहरण से भी स्पष्ट होता है। भारत में 1894 में कुल चालू मुद्रा का निर्देशांक 100 था जो 1912 में 164 हो गया। इसी बीच वस्तुओं के मूल्यांक भी 100 से 138 हो गये। चालू मुद्रा का निर्देशांक 1934 में 1920 के 100 से घट कर 74 रह गया। परिणामस्वरूप मूल्य निर्देशांक भी इस अवधि में घट कर 100 से 44 रह गया। निम्न तालिका में गत कुछ वर्षों में मुद्रा की मात्रा और मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का संबन्ध दिखाया गया है।

वर्ष	जनता के पास कुल चलन की मात्रा (करोड़ रु० में)	जनता के पास डिपोजिट मुद्रा (करोड़ रु० में)	कुल मुद्रा प्रदाय (करोड़ रु. में)	थोक मूल्यों का निर्देशक आधार 1952-53=100
1955-56	1571.01	645.94	2216.95	92.5
1960-61	2098.05	770.56	2868.61	124.9
1961-62	2201.16	844.66	3045.82	125.1
1962-63	2379.47	930.51	3309.97	127.9
1963-64	2605.56	1146.56	3752.12	135.3
1964-65	2769.07	1311.00	4080.06	152.7

]

वास्तव में गत कुछ वर्षों में भारत में मूल्यों में वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण मुद्रा प्रसार और मुद्रा की मात्रा का बढ़ जाना है। इसी बात को निम्न रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार प्रति वर्ष मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के साथ साथ मूल्य भी बढ़ रहे हैं।

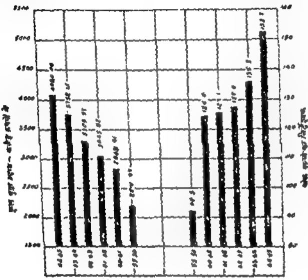

अतः स्पष्ट है कि मुद्रा की मात्रा के साथ साथ मूल्य में परिवर्तन होता है। देश की व्यापारिक आवश्यकताओं की तुलना में मुद्रा की मात्रा अधिक होने पर मूल्य बहुत ऊंचे चढ़ जाते हैं। व्यवसायों में बहुत तेजी आने और मुद्रा प्रसार (Inflation) की स्थिति उत्पन्न है। इसी प्रकार देश की आवश्यकताओं की तुलना में कम होने पर मूल्य स्तर में गिरावट और उद्योगों में मुद्रा संकुचन (Deflation) की स्थिति उत्पन्न

मात्रा पर निर्भर करता है। अतः मूल्यों में स्थिरता या वांछनीय मूल्य स्तर के लिए मुद्रा की मात्रा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जाता है। उदाहरण के लिए जब मूल्य बढ़ रहे हों तो मुद्रा और साख की मात्रा में कमी या नियन्त्रण करके मूल्यों को बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया जाता है।

(2) पर्याप्त विदेशी विनिमय की व्यवस्था और विनिमय दर की स्थिरता (Stability in foreign Exchange rates and availability of enough foreign exchange)—आधुनिक युग में अन्य देशों से वस्तुयें आदि बड़ी मात्रा में मंगानी पड़ती हैं। इसके लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है। मौद्रिक नीति का उद्देश्य देश की आवश्यकताओं के अनुसार पर्याप्त विदेशी मुद्रा की व्यवस्था करना है इसके लिये यह आवश्यक है कि निर्यात पर्याप्त मात्रा में हो। निर्यातों को बढ़ाने के लिए अन्य देशों की मुद्राओं में स्वदेशी मुद्रा का मूल्य गिरा दिया जाता है जिसे अवमूल्यन (Devaluation) कहते हैं। अवमूल्यन से देश का माल विदेशों में पहले की अपेक्षा सस्ता पड़ता है जिससे निर्यात बढ़ते हैं, आयातों में कमी हो जाती है। पर्याप्त विदेशी विनिमय प्राप्त होने लगता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये अवमूल्यन से पहले एक रुपये के बदले 1 शिलिंग 5 पैंस आते थे तो अब अवमूल्यन के पश्चात केवल 1 शिलिंग 4 पैंस आने लगते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि देश का माल विदेशों में सस्ता बिकने लगेगा क्योंकि अब विदेशी उपभोक्ताओं को भारत के एक रुपये के माल के बदले में कम मुद्रा देनी पड़ेगी। परिणाम स्वरूप देश के माल की मांग विदेशों में बढ़ जायेगी। दूसरी ओर इस अवस्था में हमें 1 शिलिंग 5 पैंस के माल के लिये एक रुपये से अधिक की मुद्रा (1 रुपया=1 शिलिंग 4 पैंस) देनी पड़ेगी, जिससे विदेशी माल हमारे देश में तेज बिकने लगेगा। इन सबका यही परिणाम होगाकि अवमूल्यन के द्वारा हमारे निर्यात बढ़ जायेंगे और आयात कम हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय दर में स्थिरता लाना भी है। एक देश की मुद्रा का दूसरे की मुद्रा में परिवर्तन की दर को विदेशी विनिमय दर कहते हैं विनिमय दर में होने वाले परिवर्तन देश के विदेशी व्यापार में अनिश्चितता की

स्थिति उत्पन्न कर देते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में परिकल्पना के तत्व का समावेश हो जाता है। विदेशी व्यापार की अनिश्चितता का देश की आन्तरिक आर्थिक स्थिति और प्रगति पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। अतः मौद्रिक नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति में समायोजन द्वारा विनिमय दर को स्थिर रखना होता है।

(3) पूर्ण रोजगार और उत्पादन में वृद्धि (Full employment and increase in Production)—विभिन्न सरकारें पूर्ण रोजगार की स्थापना आर्थिक और व्यापारिक कार्यों में स्थायित्व (Stability) के लिये भी मौद्रिक नीति का सहारा लेती हैं। पूर्ण रोजगार उस स्थिति को कहते हैं जिसमें श्रमिकों में बेकारी न हो और अनिच्छापूर्वक कोई बेरोजगार न हो। दूसरे शब्दों में पूर्ण रोजगार उस स्थिति को कहते हैं जब कि काम करने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चालू और उचित मजदूरी पर रोजगार मिल जाय। पूर्ण रोजगार की स्थिति में भी स्वेच्छा से काम न करने वाले, बीमार, वृद्ध और पागल आदि व्यक्ति काम में नहीं लगे होंगे। ऐसे व्यक्ति 2 से 5 प्रतिशत तक हो सकते हैं। शेष सब व्यक्ति काम में लगे होने चाहिए। मौद्रिक नीति द्वारा इस पूर्ण रोजगार की स्थिति को लाने और बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक नीति का उद्देश्य व्यापारिक कार्यों में स्थायित्व लाना है जिससे उत्पादन और रोजगार के स्तर में धीरे धीरे थोड़ी वृद्धि होती रहे। मुद्रा और साख की मात्रा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके देश के मानवीय और प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे देश के उद्योग और व्यापार निरन्तर विकसित होते रहें। मौद्रिक नीति का उद्देश्य अत्यधिक तेजी मन्दी को रोकने के साथ इस प्रकार उत्पादन वृद्धि करना है जिससे समस्त व्यक्तियों को रोजगार मिल सके।

(4) आर्थिक नियोजन की सफलता (Success of Economic Planning)—देश के विकास की आर्थिक योजनाओं की सफलता के लिए भारी मात्रा में आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है। लिए समय समय पर होनार्थ प्रबन्ध (Deficit Finance) की मात्रा में वृद्धि करनी होती है।

10 विदेशी विनिमय

(FOREIGN EXCHANGE)

"गत कुछ समय से यह स्पष्ट हो गया है कि यदि देश को बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है और अपने विदेशी खातों (External Accounts) में संतुलन लाने के लिए तेजी से बढ़ना है तो अत्यन्त गहन निर्यात प्रयत्नों की आवश्यकता है।"

—तीसरी पंचवर्षीय योजना

आज विश्व का कोई भी देश पूर्ण रूप से स्वावलम्बी नहीं है। अमेरिका, रूस, इंगलैण्ड आदि बड़े देशों को भी दूसरे देशों से वस्तुयें मंगानी पड़ती हैं। जिसके लिए भुगतान करना आवश्यक होता है। किन्तु भिन्न-भिन्न देशों में अलग अलग मुद्रायें चलती हैं। निर्यात करने वाला देश अपनी ही मुद्रा में भुगतान चाहता है क्योंकि एक देश की मुद्रा दूसरे देश में काम नहीं आती है अतः दूसरे देशों द्वारा खरीदी गई वस्तुओं का भुगतान अमेरिका डालर में, रूस रूबल में, इंगलैंड पौंड में, जापान येन में, इटली लीरा में और भारत रुपये में चाहता है। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में भुगतान करने वाले की अपनी मुद्रा को उस देश की मुद्रा में बदलना पड़ता है जिस देश को भुगतान किया जाता है। अतः एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्राओं में बदलने की क्रिया को "विदेशी विनिमय" (Foreign Exchange) कहते हैं।

विदेशी विनिमय का अर्थ

इस सम्बन्ध में विस्तृत व संकीर्ण दोनों दृष्टिकोणों से विवेचन किया जाता है। विदेशी विनिमय की विस्तृत परिभाषा देते हुए श्री हार्टले विदर्स (Hartley Withers) ने लिखा है कि "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिवर्तन का विज्ञान तथा कला है।" विज्ञान के रूप मे इसका आशय विनिमय दर (Foreign Exchange rate) तथा उन सब रीतियों से होता है जिनकी सहायता से विदेशी भुगतानों में उत्पन्न समस्याओं को सुलझाया जाता है। कला के रूप में इसका अभिप्राय उन सभी संस्थाओं तथा यन्त्रों से होता है जिनके द्वारा विदेशी भुगतानों को निवटाया जाता है। संक्षेप मे विस्तृत दृष्टिकोण से विदेशी विनिमय का आशय उस प्रणाली से होता है जिसकी सहायता से व्यापारिक राष्ट्र परस्पर एक दूसरे के ऋणों का भुगतान करते हैं।

संकुचित दृष्टि से विदेशी विनिमय का अर्थ कई प्रकार से किया जाता है। जिस समय यह कहा जाता है कि विदेशी-विनिमय बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं उस समय इसका आशय "विदेशी विनिमय बिलों" (Foreign Exchange Bills) से होता है। जिस समय यह कहा जाता है कि विदेशी विनिमय हमारे पक्ष या विपक्ष में है, उस समय इसका आशय विदेशी विनिमय दर से होता है। जिस समय हम कहते हैं कि देश में विदेशी विनिमय की कमी है इसका अभिप्राय इस बात से है कि हम आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं को दूसरे देशों से मँगाने के लिए और अन्य भुगतानों के लिए हमारी वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात आदि से साधन कम जुटा पाये हैं। अर्थात् विदेशी मुद्राओं की आय से व्यय अधिक है। इस प्रकार विदेशी विनिमय का अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार से किया जाता है फिर भी संक्षिप्त रूप मे विदेशी विनिमय का आशय उस समस्त व्यवस्था से होता है जिसके द्वारा विदेशी भुगतानों का निपटारा किया जाता है।

संचय करना चाहता है। देश की मुद्रा के वाह्य मूल्य को भी कभी कभी विदेशी विनिमय स्थिति को सुधारने के लिए कम या अधिक करना पड़ता है।

विदेशी विनिमय की उपलब्धि (Availablity of Foreign Exchange)—देश की अर्थ व्यवस्था में विदेशी विनिमय का इतना अधिक महत्व होने के कारण ही प्रत्येक देश अधिकाधिक मात्रा में विदेशी विनिमय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। विदेशी विनिमय उपलब्धि के कुछ निम्न साधन हैं—

1. निर्यात (Exports) द्वारा—विदेशी विनिमय प्राप्ति का यह एक महत्वपूर्ण साधन है। प्रत्येक देश विभिन्न देशों को अपने देश की अतिरिक्त वस्तुयें भेजता है जिसके परिणाम स्वरूप उसे उनकी कीमत के बराबर उन देशों की मुद्रायें प्राप्त हो जाती हैं। उदाहरण के लिए भारत अमेरिका को निर्यात करके डालर और इंग्लैंड को निर्यात करके स्टर्लिंग (Sterling) प्राप्त कर सकता है। इनके बदले में वह या तो इन देशों से वस्तुयें मंगा सकता है या उन देशों से भी वस्तुयें मंगा सकता है जिन्हें इन डालर या स्टर्लिंग की आवश्यकता हो।

2.स्वर्ण द्वारा—स्वर्ण सब देशों को मान्य होता है। यह एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा है। हर देश अपनी वस्तुओं के बदले में स्वर्ण लेने को तैयार रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश की अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निर्धारित रहता है। उदाहरण के लिए सन् 1949 में रुपये के अवमूल्यन के पूर्व भारत के एक रुपये का स्वर्ण मूल्य 0.26801 ग्राम विशुद्ध स्वर्ण और उसके बाद 0.186621 ग्राम विशुद्ध स्वर्ण था जिसमें सन् 1966 के अवमूल्यन के बाद और कमी होकर 0.11816 ग्राम रह गया। इसी प्रकार अमेरिका की मुद्रा डालर का स्वर्ण मूल्य 35 डालर = 1 औंस स्वर्ण है। अतः कोई भी देश एक औंस सोना देकर 35 अमेरिकी डालर या उसके मूल्य की वस्तुयें और सेवायें प्राप्त कर सकता है।

3. ऋणों के द्वारा—विदेशी विनिमय की उपलब्धि का एक

साधन विदेशों से ऋण लेना है। विकासोन्मुख देश अपना आयात की आवश्यकताओं की पूर्ति कई बार ऋण लेकर करते हैं। विदेशों में स्थित सरकारी या गैर सरकारी संस्थाओं से ऋण प्राप्त करके भी विदेशी मुद्रा या उसके सम मूल्य की वस्तुयें और सेवायें प्राप्त की जा सकती हैं।

विदेशी विनिमय उपलब्धि के साधन
1. निर्यात द्वारा
2. स्वर्ण द्वारा
3. विदेशी ऋणों द्वारा
4. अन्य साधन

4. अन्य साधनः—थोड़ी मात्रा में विदेशी विनिमय की उपलब्धि विदेशी सरकारों द्वारा उपहार या अनुदान द्वारा भी हो सकती है। विदेशों से पर्यटकों, छात्रों आदि को आकर्षित करके भी विदेशी विनिमय प्राप्त किया जा सकता है।

विदेशी विनिमय प्राप्त करने के उपरोक्त साधनों में मुख्य साधन निर्यात वृद्धि ही है। कोई भी देश अपने यहाँ के स्वर्ण कोषों को कम नहीं करना चाहता। विदेशी ऋणों से भी समस्या का केवल अस्थायी समाधान ही होता है। इसके अतिरिक्त ब्याज और मूलधन का भुगतान के रूप में भविष्य में विदेशी विनिमय के भुगतान का दायित्व और अधिक बढ़ जाता है। अतः विदेशी विनिमय उपलब्धि का मुख्य और उत्तम साधन दृश्य और अदृश्य निर्यातों (Visible and invisible Exports) में वृद्धि करना ही है।

विदेशी विनिमय दर
Foreign Exchange Rates

विनिमय दर का अर्थ—दो देशों की मुद्राओं के विनिमय अनुपात को विनिमय दर कहते हैं। एक देश की मुद्रा के बदले में दूसरे देश की जितनी मुद्रा प्राप्त की जा सकती है उसे ही विनिमय दर कहते हैं। उदाहरण के लिए भारत की चलन इकाई रुपये के बदले में इंग्लैण्ड के 1 शि. 6 पै. मिले तो रुपये की विनिमय दर 1 रुपया=1 शि. 6 पै

होगी। विनिमय दर कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न परिभाषायें दी हैं, जिनमें से कुछ निम्न प्रकार है—

प्रो० क्राउथर के शब्दों में "यह (विनिमय दर) इस बात का माप हैं कि एक देश की मुद्रा इकाई के बदले में दूसरे देश की कितनी मुद्रा इकाइयां आती है।"

प्रो० हेन्स (Prof. Hans) के अनुसार: "विनिमय दर एक चलन मुद्रा का अन्य चलन मुद्राओं में मूल्य है।"

प्रो० चैण्डलर (Prof. Chandler) के मत से "दो मौद्रिक इकाइयों के मध्य विनिमय-दर से हमारा आशय एक देश की मुद्रा इकाइयों की उस संख्या से होता है जो दूसरी मुद्रा की एक इकाई खरीदने के लिए आवश्यक होती है।"

इस प्रकार विनिमय दर का आशय एक देश की मुद्रा की दूसरे देश की मुद्रा को प्राप्त करने की दर से है। विनिमय दर का निर्धारण विभिन्न देशों की मुद्राओं की मांग और पूर्ति की शक्तियों और उनके स्वर्ण मूल्य द्वारा होता हैं। एक देश की मुद्रा की विनिमय पर विभिन्न देशों की मुद्राओं के साथ भिन्न भिन्न होती है क्योंकि सब देशों की मुद्राओं का मूल्य समान नहीं रहता। निम्न तालिका में भारतीय रुपये की अन्य देशों की मुद्राओं में विनिमय दर 5 जून 1966 को होने वाले रुपये के अवमूल्यन के पूर्व और बाद में बतलाई गई है।

देश	मुद्रा का नाम		भारतीय रुपया जिसके बदले में 5जून 66 के पूर्व तक	5 जून 1966 के बाद
इंगलैण्ड	1 पाउण्ड	=	13.33 रु०	20.99 रु०
अमेरिका	1 डालर	=	4.76 रु०	7.49 रु०
रूस	1 रूबल	=	5.21 रु०	8.33 रु०
अफगानिस्तान	1 अफगानी	=	0.10 रु०	0.16 रु०
बर्मा	1 क्यात	=	1.00 रु०	1.57 रु०

ईरान	1 दीनार	=	13.33 रु०	20.99रु०
फ्रांस	1 फ्रैंक	=	0.96 रु०	1.51रु०
जापान	1 येन	=	0.01 रु०	0.02रु०
मिश्र	1 पौंड	=	13.67 रु०	21.53रु०
लंका	1 रुपी	=	1.00 रु०	1.57रु०
पाकिस्तान	1 रुपी	=	1.00 रु०	1.57रु०
कनाडा	1 डालर	=	4.40 रु०	6.93रु०

इसी प्रकार दो देशों की विदेशी विनिमय दर में भी विभिन्न समयों पर उनकी मांग और पूर्ति के अनुसार तथा सम्बन्धित देशों की मौद्रिक नीतियों के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। विदेशी मुद्रा या स्वर्ण के मुकाबले में एक देश की मुद्रा के मूल्य कम हो जाने को अवमूल्यन (devaluation) कहते हैं। निम्न तालिका में भारतीय मुद्रा की कतिपय देशों में विभिन्न समयों की विनिमय दरों को दर्शाया गया है।

भारत का	देश	मुद्रा का नाम	18 सितम्बर-1949 के अवमूल्यन से पूर्व	5 जून 1966 अवमूल्यन से बाद	वर्तमान
1 रु०	अमेरिका	डालर	30.225 सेन्ट	21 सेन्ट	13.35सेन्ट
1 रु०	इंग्लैंड	पौंड	1 शि० 6 पै०	1 शि० 6 पै०	1शि. 1$\frac{3}{8}$ पै.
1 रु०	—	स्वर्ण	0.26801 ग्राम	0.186621ग्राम	0 11816ग्राम

सुदृढ़ एवं निर्बल मुद्रा (Hard and Soft Currency)

सुदृढ़ मुद्रा से तात्पर्य उस मुद्रा से है जिसका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में स्थायी होता है। ऐसी मुद्रा की शक्ति एक देश के विदेशी व्यापार की स्थिति एवं आंतरिक स्थायित्व पर निर्भर होती है,जो सामान्यतया विदेशी व्यापार के भुगतान संतुलन में काफी बचत के रूप में मानी जाती है। इसके विपरीत निर्बल मुद्रा वह होती है जिसका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अस्थायी होता है या जिसका बाह्य मूल्य दीर्घ-काल में गिर जाता है। सामान्यतया किसी भी राष्ट्र की मुद्रा में दीर्घ-काल में विदेशी व्यापार में घाटे के कारण उत्पन्न

उदाहरणार्थ द्वितीय महायुद्ध के बाद काफी समय तक अमेरिका की डालर मुद्रा को सुदृढ़, एवं इंग्लैंड की स्टर्लिंग मुद्रा को निर्बल मुद्रा माना जाता था। क्योंकि अमेरिका के विदेशी व्यापार संतुलन में काफी बचत थी और इंग्लैंड के विदेशी व्यापार में काफी घाटा था। डालर का मूल्य स्थायी था मगर स्टर्लिंग का मूल्य गिर रहा था। इसी प्रकार भारत का रुपया भी निर्बल मुद्रा है क्योंकि इस देश के विदेशी व्यापार में काफी घाटा रहा है और इसका बाह्य मूल्य गिरता जा रहा है।

भारत में विदेशी विनिमय
Foreign Exchange in India

भारत अत्यन्त प्राचीन काल से विदेशों के साथ व्यापार करता रहा है। भारत में निर्मित वस्तुएं विश्व के समस्त भागों में भेजी जाती रही हैं और वहाँ से उसके बदले में सोना और अन्य वस्तुएं आती रहती थीं। द्वितीय महायुद्ध तक हमारे निर्यात हमारे आयातों से अधिक रहे अतः विदेशी विनिमय की कोई समस्या नहीं थी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान भी हमारे निर्यात आयात से अधिक रहे। जिससे व्यापार शेष (Balance of Trade) सदैव भारत के अनुकूल रहा। सन् 1944-45 में भारत ने आयातों की तुलना में 42 करोड़ रु० का अधिक निर्यात किया। इस प्रकार विदेशी विनिमय की स्थिति सन्तोषप्रद थी। इसके अलावा इस बीच हमारे विदेशी मुद्रा कोष में भी बहुत वृद्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटिश सरकार ने युद्ध संचालन के लिए भारत से भारी मात्रा में माल खरीदा जिसका भुगतान तत्काल न करके स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में किया जिसके आधार पर कागजी मुद्रा छापकर व्यापारियों को भुगतान किया गया। इंग्लैंड की सरकार पर जो इस प्रकार का ऋण चढ़ा उसे पौंड पावना (Sterling Balances) कहते हैं। युद्ध के पूर्व भारत पर 36 करोड़ पौंड का साम्राज्यवादी ऋण लदा हुआ था। किन्तु युद्धकाल में भारत ने इतने माल का निर्यात किया कि न केवल ऋण ही चुक गया अपितु

इंग्लैंड पर पौंड पावने की राशि सन् 1947 में 1662 करोड़ रुपये हो गई। इस प्रकार स्वतंत्रता के समय तक हमारे भारत में विदेशी विनिमय की स्थिति सन्तोषप्रद थी।

किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् विदेशी विनिमय की स्थिति बदलती गई। देश के विभाजन के कारण कच्चे माल और खाद्यान्नों की भारी कमी आ गई जिसकी पूर्ति विदेशों से अन्न मंगाकर की गई। देश के आर्थिक विकास कार्यक्रम को अबाध गति से चलाने और पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने के लिए निर्मित और कच्चा माल, मशीनें और अन्य पूंजीगत सामग्री तथा उद्योग और यातायात की सामग्री भारी मात्रा में आयात की आवश्यकता तेजी से बढ़ने लगी। दूसरी ओर हम हमारे निर्यातों को नहीं बढ़ा सके। परिणाम स्वरूप हमारा व्यापार सन्तुलन विपक्ष में हो गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में 400 करोड़ रु० की मूल्य की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता का अनुमान था। योजना काल में कमी के बावजूद इसकी समाप्ति पर देश के विदेशी मुद्रा कोष में 825 करोड़ रुपये की रकम बाकी पड़ी थी। दूसरी योजना में विदेशी मुद्रा तीव्र गति से क्षीण होने लगी योजना की समाप्ति पर हमारा विदेशी मुद्रा कोष 300 करोड़ रु० से भी कम रह गया। तीसरी योजना में 5750 करोड़ रु० मूल्य के आयात और 3700 करोड़ रु० मूल्य के निर्यात और इस प्रकार 2050 करोड़ रुपये के व्यापार के घाटे का अनुमान था। सामान्य पूंजी लेन देने में 550 करोड़ रु०के घाटे का अनुमान था। इस प्रकार कुल 2600करोड़ रु० का घाटा होने और विदेशी मुद्रा कोष के निम्न स्तर पर पहुंचने का अनुमान था। अतः सख्त आयात नीति के कारण हमने आयात पर अंकुश रखा। साथ ही निर्यात में भी थोड़ा सुधार हुआ। 1965-66 के वित्तीय वर्ष में 48 करोड़ रु०की वृद्धि हुई जब कि पिछले वर्ष 56 करोड़ रु० की कमी हुई थी। यो के अन्तिम वर्ष की इस अच्छी स्थिति का प्रमुख कारण [illegible] कठिनाई के कारण आयात में की गई कमी थी। [illegible]

सुधार को स्थायी नहीं समझना चाहिए। भविष्य में आयात की निरंतर बढ़ती हुई आवश्यकता के कारण बिना विदेशी सहायता के विनिमय खाते की स्थिति को बनाये रखना कठिन प्रतीत होता है। चौथी योजना की अवधि में 2400 करोड़ रु० वार्षिक औसत आयात का अनुमान है। साथ ही विदेशों के ऋण भी वापस करने हैं और ब्याज भी चुकाना है। दूसरी ओर हमारे विदेशी मुद्रा कोष पौंड पावने आदि सब लगभग समाप्त हो गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी सहायता ली गई है किन्तु फिर भी आज हमारे सामने विदेशी विनिमय के अभाव की समस्या भयंकर रूप में खड़ी है और योजनाओं के सफल संचालन और अन्य आवश्यक सामग्री का आयात करने में भी अत्यन्त कठिनाई उपस्थित हो रही है। देश में विदेशी विनियम की भारी कमी है जिसके निम्न कारण हैं—

(1) आयातों का अधिक होना—गत वर्षों में भारत ने योजना-बद्ध आर्थिक विकास के मार्ग को अपनाया है। देश के औद्योगिक विकास के लिए पूंजीगत वस्तुओं, यन्त्रों, उपकरणों, कच्चे और अर्धनिर्मित माल, ईंधन रसायनिक पदार्थ आदि का आयात कई गुना बढ़ गया है। जल विद्युत योजनाओं यातायात एवं संचार साधनों के विकास आदि के लिए भी भारी मात्रा में सामग्री का आयात किया गया है, देश में खाद्यानों के भारी अभाव की पूर्ति भी विदेशों से अन्न का आयात करके पूरी करने की कोशिश की गई है। रक्षा व्यवस्था के लिए आयात भी करना पड़ा है। इन सबके लिए विदेशी विनियम की भारी मात्रा व्यय करनी पड़ी है। सन् 1950-51 में हमारे आयात जहाँ 650.44 करोड़ रु० के थे सन् 1966-67 में बढ़कर 2,048.92 करोड़ रु० के हो गये। *

(2) निर्यातों का नहीं बढ़ना—निर्यात विदेशी विनियम कमाने का सर्वोत्तम साधन है किन्तु पिछले वर्षों में हमारे निर्यातों में आयातों के अनुपात में बहुत कम वृद्धि हुई। हमारी निर्यात की मुख्य मदें सूती वस्त्र, जूट, चाय आदि हैं। हमारी इन वस्तुओं की माँग विदेशों में अधिक नहीं बढ़ी है। इसके अलावा चीन, जापान, पाकिस्तान आदि कई

*India 1968

देशों की विश्व बाजारों में प्रतिस्पर्धा ने भी हमारे निर्यातों का नहीं बढ़ने दिया है बल्कि कई वस्तुओं का निर्यात घटा है। भारत के निर्यात व्यापार के इतिहास से स्पष्ट है कि 15 वर्ष पहले हम 100 करोड़ रु० का कपड़ा निर्यात करते थे लेकिन पिछले कुछ वर्षों से भारत केवल 50 करोड़ रुपए का कपड़ा ही निर्यात कर पा रहा है। इसके अतिरिक्त हमारे जूट, कपास वस्त्र आदि परम्परागत वस्तुओं के निर्यात को कृत्रिम वस्तुओं (सिंथेटिक वस्तुओं) के अविष्कार के कारण भी धक्का लगा है। यद्यपि कई अपरंपरागत वस्तुओं जैसे इंजिनियरिंग का सामान, सिलाई

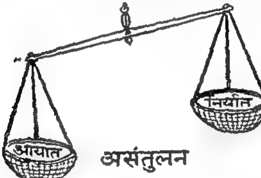

मशीनें पंखे आदि के निर्यात में थोड़ी वृद्धि हुई है किन्तु इन वस्तुओं के निर्यात व्यापार में भी घटिया किस्म और ऊँची लागत की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। परिणाम स्वरूप कई प्रयत्नों के बाद भी भारत के निर्यातों में आशानुकूल वृद्धि नहीं हो पा रही है। उदाहरण के लिए हमारे देश से सन् 1950-51 में 600.67 करोड़ रु० का निर्यात किया गया जो 16 वर्षों में बढ़कर 1966-67 में केवल 1,156-58 करोड़ रु० ही हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जबकि गत पन्द्रह वर्षों में हमारे वार्षिक आयातों में 1400 करोड़ रु० की वृद्धि हुई ... 556 करोड़ रु० से बढ़े हैं। परिणाम ... पर बुरा प्रभाव पड़ा है। निम्न रेखा...

भारत के आयात और निर्यात

पैमाना - 1 से.मी. = 400 करोड़ रुपये.

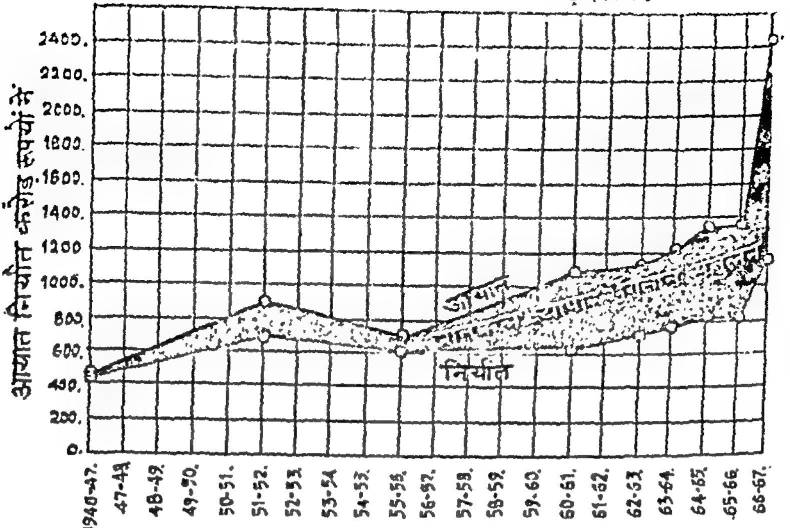

भारत का विदेशी व्यापार ((करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात(—)	निर्यात(+)		व्यापार शेष
1919-20	222	336	+	11.4
1929-30	250	318	+	68
1940-41	157	187	+	30
1946-47	445.81	408.24	—	37.57
1951-52	979.34	732.95	—	246.39
1955-56	774.35	608.91	—	165.44
1960-61	1122.48	642.07	—	480.41
1961-62	1093·08	660.58	—	432.50
1962-63	1137.24	701.61	—	435.63
1963-64	1223.75	793.24	—	430.51
1964-65	1349.72	816.30	—	533.42
1965-66	1350.44	805.64	—	603.24
1966-67	2408.92	1156.58	—	892.34

तकनीशियन, आदि बुलाये हैं। इनके लिए भी विदेशी विनिमय का व्यय बढ़ा है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत में विदेशी विनिमय की अत्यन्त कमी है। हमारे विदेशी विनिमय और स्वर्ण कोष भयावह सीमा तक समाप्त हो चुके हैं। विदेशी विनिमय की कमी के कारण ही हम अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं का भी आयात नहीं कर पा रहे हैं। तीसरी योजना की आवश्यकता का एक मुख्य कारण विदेशी विनिमय की कमी के कारण योजनाओं के क्रियान्वित के लिए आवश्यक सामग्री का विदेशों से नहीं मंगा पाना हैं। विदेशी विनिमय की कमी देश की एक कठिन समस्या बन गई है।

विदेशी विनिमय संकट का निवारण—इसके लिए निम्न दो दिशाओं में प्रयत्न करने की आवश्यकता है:—

(अ) वर्तमान विदेशी विनिमय साधनों का संरक्षण और समुचित उपयोग—विदेशी विनिमय संकट के निवारण के लिए यह आवश्यक है कि जो कुछ विदेशी मुद्रा देश को प्राप्त हो उसका उचित और अतिआवश्यक कार्यों में ही उपयोग किया करें। हमें विदेशी विनिमय का उपयोग अर्थ व्यवस्था में अत्यन्त मितव्ययता पूर्वक करना चाहिए अनावश्यक कार्यों के लिए विदेशी विनिमय के व्यय की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इसके साथ ही आयात प्रतिस्थापन (Import substitution) का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे कार्यो के लिए और वस्तुओं के आयात के लिए ही विदेशी मुद्रा व्यय की जानी चाहिए जिससे भविष्य में आयात कम हो और निर्यात क्षमता बढ़े। सरकार इस ओर जागरूक है। अब केवल अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए ही विदेशी विनिमय के व्यय की आज्ञा दी जाती है। कई वस्तुओं का आयात बिलकुल बन्द और कई का काम कर दिया गया है। विदेशी मुद्रा के सदुपयोग के लिये डा० वी. के. आर. वी. राव की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया है।

(ब) अधिक विदेशी विनिमय का प्राप्त करना—विदेशी विनिमय संकट की समाप्ति के लिए जहाँ उपलब्ध विदेशी विनिमय के सदुपयोग की आवश्यकता है वहाँ विदेशी विनिमय प्राप्ति में वृद्धि के प्रयत्नों का और ज्यादा आवश्यकता है। हमें विदेशी विनिमय ज्यादा से ज्यादा कमाने के प्रयत्न करने चाहिए। इसके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपाय निर्यात संवर्द्धन (Export Promotion) है। अन्य देशों से अधिक मात्रा में यात्रियों, छात्रों आदि को आकर्षित करके भी विदेशी विनिमय प्राप्त करने की कोशिश की जानी चाहिए। विदेशी सहायता के द्वारा भी अस्थायी रूप से विदेशी विनिमय की कमी को दूर किया जा सकता है। सरकार विदेशी विनिमय की समस्या को हल करने के लिए इन सब उपायों को कर रही है।

निर्यात संवर्द्धन (Export Promotion)

विदेशी विनिमय संकट के निवारण का सबसे प्रभावपूर्ण उपाय-निर्यातों में वृद्धि करना है। देश से अधिक से अधिक मात्रा में वस्तुओं और सेवाओं का निर्यात किया जाय। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात से ही सरकार इस ओर प्रयत्नशील रही है। निर्यातों को बढ़ाने और अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए देश में निम्न प्रयत्न किये गये हैं।

(1) निर्यात सुझाव समितियों का निर्माण—सरकार ने निर्यात वृद्धि और उससे सम्बन्धित समस्याओं के हल के लिए कई समितियों की नियुक्ति की है जिन्होंने निर्यात में वृद्धि करने के लिये कई सुझाव दिये हैं।

निर्यात संवर्द्धन के उपाय
1. निर्यात सुझाव समितियों का निर्माण
2. निर्यात संवर्द्धन संस्थाओं का संगठन
3. रुपये का अवमूल्यन
4. व्यापार समझौते
5. उत्पादन की मात्रा में वृद्धि,
6. प्रोत्साहन योजनायें तथा सहायता

(2) निर्यात संवर्द्धन संगठनों का बनाया जाना—निर्यात संवर्द्धन के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ संस्थाओं का निर्माण किया गया है।

3. रुपये का
अन्य देशों के मुकाबले
सस्ता पड़े इसके

तकनीशियन, आदि बुलाये हैं। इनके लिए भी विदेशी विनिमय का व्यय बढ़ा है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत में विदेशी विनिमय की अत्यन्त कमी है। हमारे विदेशी विनिमय और स्वर्ण कोष भयावह सीमा तक समाप्त हो चुके हैं। विदेशी विनिमय की कमी के कारण ही हम अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं का भी आयात नहीं कर पा रहे हैं। तीसरी योजना की आवश्यकता का एक मुख्य कारण विदेशी विनिमय की कमी के कारण योजनाओं के क्रियान्वित के लिए आवश्यक सामग्री का विदेशों से नहीं मंगा पाना हैं। विदेशी विनिमय की कमी देश की एक कठिन समस्या बन गई है।

विदेशी विनिमय संकट का निवारण—इसके लिए निम्न दो दिशाओं में प्रयत्न करने की आवश्यकता है:—

(अ) **वर्तमान विदेशी विनिमय साधनों का संरक्षण और समुचित उपयोग**—विदेशी विनिमय संकट के निवारण के लिए यह आवश्यक है कि जो कुछ विदेशी मुद्रा देश को प्राप्त हो उसका उचित और अतिआवश्यक कार्यों में ही उपयोग किया करें। हमें विदेशी विनिमय का उपयोग अर्थ व्यवस्था में अत्यन्त मितव्ययता पूर्वक करना चाहिए अनावश्यक कार्यों के लिए विदेशी विनिमय के व्यय की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इसके साथ ही आयात प्रतिस्थापन (Import substitution) का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए और वस्तुओं के आयात के लिए ही विदेशी मुद्रा व्यय की जानी चाहिए जिससे भविष्य में आयात कम हो और निर्यात क्षमता बढ़े। सरकार इस ओर जागरूक है। अब केवल अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए ही विदेशी विनिमय के व्यय की आज्ञा दी जाती है। कई वस्तुओं का आयात बिलकुल बन्द और कई का काम कर दिया गया है। विदेशी मुद्रा के सदुपयोग के लिये डा० वी. के. आर. वी. राव की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया है।

(ब) अधिक विदेशी विनिमय का प्राप्त करना—विदेशी विनिमय संकट की समाप्ति के लिए जहाँ उपलब्ध विदेशी विनिमय के सदुपयोग की आवश्यकता है वहाँ विदेशी विनिमय प्राप्ति में वृद्धि के प्रयत्नों का और ज्यादा आवश्यकता है। हमें विदेशी विनिमय ज्यादा से ज्यादा कमाने के प्रयत्न करने चाहिए। इसके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपाय निर्यात संवर्द्धन (Export Promotion) है। अन्य देशों से अधिक मात्रा में यात्रियों, छात्रों आदि को आकर्षित करके भी विदेशी विनिमय प्राप्त करने की कोशिश की जानी चाहिए। विदेशी सहायता के द्वारा भी अस्थायी रूप से विदेशी विनिमय की कमी को दूर किया जा सकता है। सरकार विदेशी विनिमय की समस्या को हल करने के लिए इन सब उपायों को कर रही है।

निर्यात संवर्द्धन (Export Promotion)

विदेशी विनिमय संकट के निवारण का सबसे प्रभावपूर्ण उपाय-निर्यातों में वृद्धि करना है। देश से अधिक से अधिक मात्रा में वस्तुओं और सेवाओं का निर्यात किया जाय। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात से ही सरकार इस ओर प्रयत्नशील रही है। निर्यातों को बढ़ाने और अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए देश में निम्न प्रयत्न किये गये हैं।

(1) निर्यात सुझाव समितियों का निर्माण—सरकार ने निर्यात वृद्धि और उससे सम्बन्धित समस्याओं के हल के लिए कई समितियों की नियुक्ति की है जिन्होंने निर्यात में वृद्धि करने के लिये कई सुझाव दिये हैं।

निर्यात संवर्द्धन के उपाय
1. निर्यात सुझाव समितियों का निर्माण
2. निर्यात संवर्द्धन संस्थाओं का संगठन
3. रुपये का अवमूल्यन
4. व्यापार समझौते
5. उत्पादन की मात्रा में वृद्धि
6. प्रोत्साहन योजनायें तथा सहायता

(2) निर्यात संवर्द्धन संगठनों का बनाया जाना—निर्यात संवर्द्धन के कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के लिए कुछ संस्थाओं का निर्माण किया गया है।

3. रुपये
अन्य
सस्ता

बार अपने रुपये का अवमूल्यन (Devaluation) किया है। प्रथम बार 1 सितम्बर 1949 और अन्तिम बार जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन करके अन्य मुद्राओं के मुकाबले में भारतीय रुपये की वाह्य कीमत गिराई गई है जिससे विदेशी मुद्राओं के बदले भारत में पहले से ज्यादा वस्तुएं मिल सकें। इस प्रकार विश्व बाजारों में भारतीय वस्तुयें सस्ती होने से उनके निर्यात बढ़ेंगे।

4. व्यापार समझौते (Trade Agreements)—भारत ने विभिन्न देशों के साथ व्यापार समझौते किये हैं। वर्तमान में 30 देशों के साथ व्यापारिक समझौते जारी हैं। इन समझौतों का उद्देश्य पारस्परिक व्यापार को बढ़ाना, भारत के निर्यात को बढ़ावा देना और विदेशी विनिमय की समस्या को हल करना है।

5. उत्पादन में वृद्धि—निर्यातों को बढ़ाने के लिए देश में उत्पादन में वृद्धि करने की कोशिश की जा रही है। निर्यात की परंपरागत वस्तुओं के अतिरिक्त नवीन निर्यात योग्य वस्तुओं का भी उत्पादन का प्रयत्न किया जा रहा है। उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ माल की किस्म सुधारने और उत्पादन लागत कम करने का भी प्रयास किया जा रहा है ताकि ज्यादा से ज्यादा निर्यात किया जा सके।

6. प्रोत्साहन योजनायें तथा सहायता—भारत से निर्यात बढ़ाने के लिए निम्न प्रोत्साहन योजनायें और सहायता जारी है—

(i) निर्यात उद्योगों के आधुनिकीकरण (Modernisation) और उनकी स्थापना के लिए आवश्यक मशीनें एवं अन्य सामग्री के आयात को प्राथमिकता दी जाती है।

(ii) निर्यात सम्बन्धी वायदों की पूर्ति के लिए आवश्यक सामग्री खरीदने के लिए निर्यात को अग्रिम लाइसेंस दिये जाते हैं।

(iii) निर्यात उद्योगों में प्रयुक्त देशी कच्चे पदार्थों जैसे—लोहा, इस्पात, टीन की चादरें आदि को रियायती दर पर और प्राथमिकता के आधार पर दिया जाता है।

(iv) निर्यात से प्राप्त आय पर लगने वाले आयकर में छूट दी जाती है और चाय आदि कई वस्तुओं पर निर्यात कम किये गये हैं।

(v) निर्यातकों को ऋण सम्बन्धी सुविधायें दी जाती हैं।

(vi) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर यातायात व्यय, रेल किराया आदि में रियायत दी जाती है और उनके गमनागमन को प्राथमिकता दी जाती है।

(vii) विदेशों में व्यापारिक शिष्टमण्डल और अध्ययन दल भेजे जाते हैं ताकि निर्यात वृद्धि की सम्भावनाओं का पता लगायें और निर्यात बढ़ाने की कोशिश करें। इसके अलावा विदेशों में व्यापारिक मेलों में भाग लेकर और प्रदर्शनियाँ आदि आयोजित करके भारतीय वस्तुओं का प्रचार किया जाता है।

निर्यात वृद्धि के लिए उपरोक्त उपायों के बावजूद भी हमारे निर्यात वांछनीय स्तर तक नहीं बढ़े हैं। अतः हमें इस ओर अधिक गहन प्रयत्न करने की आवश्यकता है। विदेशी विनिमय की समस्या के हल के लिए निर्यात वृद्धि के प्रयत्नों के साथ साथ देश में कम लागत पर अच्छी किस्म की अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करने की आवश्यकता है। इससे निर्यात में वृद्धि के साथ-साथ आयात में भी कमी होगी।

सारांश

विदेशी विनिमय का अर्थ—विदेशी विनिमय का आशय उस प्रणाली से होता है जिसकी सहायता से व्यापारिक राष्ट्र परस्पर एक दूसरे के ऋणों का भुगतान करते हैं।

विदेशी विनिमय की आवश्यकता इन कारणों से होती है—(i) आवश्यक सामग्री के आयात के लिए (ii) सेवाओं के आयात के लिए (iii) ऋण सेवाओं के लिए (iv) लाभांश के भुगतान के (v) छात्रों और यात्रियों के विदेशों में व्यय के व्यय मुआवजा आदि के लिए (vii) दूतावासों, व्यय के लिए।

विदेशी विनिमय का अर्थ-व्यवस्था में महत्व—प्रत्येक देश को अन्य देशों से वस्तुयें, सेवायें आदि मँगानी पड़ती हैं। इनके भुगतान के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है क्योंकि निर्यात कर्ता देश अपनी ही मुद्रा में भुगतान चाहता है। आर्थिक विकास के पथ पर अग्रसर विकासशील देशों को बड़ी मात्रा में विदेशों से सामग्री का आयात करना पड़ता है जिसके लिये विदेशी मुद्रा की बड़ी आवश्यकता होती है।

विदेशी विनिमय की उपलब्धि के साधन—(i) निर्यात (ii) स्वर्ण (iii) विदेशी ऋण (iv) अन्य साधन।

विदेशी विनिमय दर—दो देशों की मुद्राओं के विनिमय अनुपात को विनिमय दर कहते हैं विनिमय दर का निर्धारण विभिन्न देशों की मुद्राओं की मांग और पूर्ति की शक्तियों तथा उनके स्वर्ण मूल्य द्वारा होता है।

भारत में विदेशी विनिमयः—स्वतन्त्रता के पश्चात खाद्यानों की आवश्यकताओं की पूर्ति और पंचवर्षीय योजनाओं के संचालन के लिए भारत को विदेशों से भारी मात्रा में सामग्री का आयात करना पड़ा है। साथ ही उसके निर्यात इतने नहीं बढ़े हैं। अतः देश में विदेशी विनिमय की अत्यन्त कमी है। इसके कमी के ये कारण हैं:-(i) आयातों का अधिक होना (ii) निर्यातों का नहीं बढ़ना (iii) विदेशी ऋण और ब्याज का भुगतान (iv) छात्रों और शिष्ट मण्डलों आदि पर व्यय (v) दूतावासों पर व्यय (vi) सेवाओं का आयात। अतः वर्तमान विदेशी विनिमय साधनों का संरक्षण और समुचित उपयोग करना चाहिए साथ ही निर्यात संवर्द्धन द्वारा विदेशी विनिमय साधनों को बढ़ाना चाहिए।

भारत में निर्यात संवर्द्धन के लिए किए गए प्रयत्नः—(i) निर्यात सुझाव समितियों का निर्माण (ii) निर्यात संवर्द्धन संगठन का बनाया जाना (iii) रुपये का अवमूल्यन (iv) व्यापार समझौते

(v) उत्पादन की मात्रा में वृद्धि (vi) प्रोत्साहन योजनायें और निर्यात में सहायता।

प्रश्न

1. विदेशी विनिमय से क्या तात्पर्य है। इसकी प्राप्ति के क्या साधन हैं।
2. विदेशी विनिमय की आवश्यकता क्यों होती है। विकासोन्मुख देश के लिए विदेशी विनिमय का महत्व क्यों अधिक है?
3. भारत में विदेशी विनिमय की वर्तमान स्थिति का वर्णन करते हुए बतलाइये कि विदेशी विनिमय संकट के क्या कारण हैं?
4. हमारे देश में विदेशी विनिमय संकट को किस प्रकार दूर किया जा सकता है। इसके लिए अब तक क्या प्रयास किये गये हैं?
5. निर्यात संवर्द्धन किसे कहते हैं? निर्यात संवर्द्धन के लिए भारत में क्या प्रयत्न किये गये हैं? निर्यात वृद्धि के लिए आप अन्य क्या सुझाव देंगे?

11

आय और उसका उपयोग

INCOME AND ITS USE

"जब तक किसी परिवार के हाथ में चाहे वह संतों का ही परिवार हो दैनिक साप्ताहिक मासिक या वार्षिक आय के रूप में मुद्रा या धन का सतत प्रवाह नहीं आता वह परिवार दुःखी और अपूर्ण रहता है।"

पॉल ए. सेम्युअल सन

प्राचीन काल में मनुष्य अपनी आवश्यकतायें प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट करता था। यदि उसे भूख लगती तो वह स्वयं अपने प्रयत्नों से फल तोड़ कर या जानवर मारकर खा लेता था। यदि विश्राम और आश्रय की आवश्यकता होती तो गुफाओं को खोजकर या घास पत्तों से झोंपड़े बनाकर उनमें निवास कर लेता था। अन्य आवश्यकतायें भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष रीति से संतुष्ट कर ली जाती थी। अतः उसे आधुनिक युग के समान आय की आवश्यकता नहीं होती थी जिसके द्वारा वह अपनी वांछनीय वस्तुयें प्राप्त करके अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करता। यद्यपि आज पिछड़े समाजों में ऐसे कुछ व्यक्ति मिल सकते हैं जो अपनी आवश्यकतायें प्रत्यक्ष रूप से बिना आय के माध्यम के संतुष्ट करते हैं। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है। फिर भी ऐसे लोग थोड़े ही हैं जो स्वयं उत्पन्न किया हुआ भोजन करते हों, स्वयं बनाये हुए कपड़े से स्वयं सिये वस्त्र पहनते हों, स्वयं के द्वारा बनाए

11

आय और उसका उपयोग

INCOME AND ITS USE

"जब तक किसी परिवार के हाथ में चाहे वह संतों का ही परिवार हो दैनिक साप्ताहिक मासिक या वार्षिक आय के रूप में मुद्रा या धन का सतत प्रवाह नहीं आता वह परिवार दुःखी और अपूर्ण रहता है।"

पॉल ए. सेम्युअल सन

प्राचीन काल में मनुष्य अपनी आवश्यकतायें प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट करता था। यदि उसे भूख लगती तो वह स्वयं अपने प्रयत्नों से फल तोड़ कर या जानवर मारकर खा लेता था। यदि विश्राम और आश्रय की आवश्यकता होती तो गुफाओं को खोजकर या घास पत्तों से झोंपड़े बनाकर उनमें निवास कर लेता था। अन्य आवश्यकतायें भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष रीति से संतुष्ट कर ली जाती थी। अतः उसे आधुनिक युग के समान आय की आवश्यकता नहीं होती थी जिसके द्वारा वह अपनी वांछनीय वस्तुयें प्राप्त करके अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करता। यद्यपि आज पिछड़े समाजों में ऐसे कुछ व्यक्ति मिल सकते हैं जो अपनी आवश्यकतायें प्रत्यक्ष रूप से बिना आय के माध्यम के संतुष्ट करते हैं। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है। विश्व में ऐसे लोग थोड़े ही हैं जो स्वयं उत्पन्न किया हुआ भोजन करते हों, स्वयं बनाये हुए कपड़े से स्वयं सिये वस्त्र पहनते हों, स्वयं के द्वारा उत्पन्न

सामग्री से खुद के द्वारा निर्मित मकान में रहते हों और अपनी समस्त आवश्यकतायें प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रयत्नों द्वारा ही सतुष्ट करते हों।

अधिकांश व्यक्ति अपने प्रयत्नों द्वारा ऐसी वस्तुयें और सेवायें उत्पन्न करते हैं जिन्हें बेचकर आय प्राप्त की जाती है और इस आय को व्यय करके आवश्यकतायें सतुष्ट की जाती हैं। इस प्रकार आधुनिक युग में आवश्यकताओं की संतुष्टि में आय का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

आय का स्रोत उत्पादन (Production as a source of Income)— वर्तमान में आवश्यकताओं की संतुष्टि आय के द्वारा की जाती है। इस आय का स्रोत उत्पादन है। मनुष्य अपने प्रयत्नों द्वारा उत्पादन करता है। उत्पादन क्रिया के फलस्वरूप ही उसे प्रतिफल के रूप में आय प्राप्त होती है। उत्पादन के समस्त साधनों की आय भी उत्पादन में उनके सहयोग के कारण ही प्राप्त होती है। यदि कोई व्यक्ति उत्पादन नहीं करे तो उसे आय प्राप्त नहीं होगी। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति या साधन को आय उत्पादन में उसके द्वारा दिये गये सहयोग के आधार पर दी जाती है। यदि उत्पादन नहीं होता तो आय भी नहीं होती। इस प्रकार उत्पादन ही वह स्रोत है जिससे विभिन्न व्यक्ति और साधन आय प्राप्त करते हैं। उत्पादन आय की आवश्यक शर्त है। कोई भी व्यक्ति बिना काम कराये श्रमिकों को मजदूरी नहीं देगा। मनुष्य को आवश्यकता अनुभव होती है, आवश्यकता प्रयत्नों को प्रेरणा देती है। परिणाम स्वरूप मनुष्य उत्पादन का प्रयत्न करता है जिससे उसे आय प्राप्त होती है। प्राप्त आय के बदले में वांछनीय वस्तुयें और सेवायें क्रय करके उनके उपभोग द्वारा आवश्यकताओं की संतुष्टि की जाती है। अतः स्पष्ट है कि आय का उद्गम स्थान उत्पादन है। ... से इस बात का स्पष्टीकरण होता है—

वास्तविक आय को प्रभावित करने वाले तत्व
1. मौद्रिक आय
2. मूल्य स्तर
3. नकद आय के अतिरिक्त अन्य लाभ
4. अन्य सुविधाएं
5. आय प्राप्ति का ढंग
6. भविष्य में आय वृद्धि का आशा
7. प्रशिक्षण का समय और व्यय
8. सामाजिक प्रतिष्ठा
9. सामाजिक लागतें

ऋणदाता ऋणी को 5% व्याज देने के अतिरिक्त अपनी फसल भी सस्ते मूल्य पर वेचता है तो पूंजीपति की वास्तविक आय 5% से अधिक होगी।

4. अन्य सुविधायें:—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें लगे लोगों के आश्रितों को प्रशिक्षण और काम मिल जाता है, तो ऐसे व्यक्तियों की वास्तविक आय अधिक होगी। इस प्रकार अन्य सुविधाओं का भी आय पर प्रभाव पड़ता है।

5. आय प्राप्ति का ढंग:—आय प्राप्ति के ढंग पर भी वास्तविक आय निर्भर है। अधिक लम्बे समय तक कठोर परिश्रम करके नीरस घृणित और जोखिम पूर्ण कार्य करके प्राप्त मौद्रिक आय अधिक हो सकती है किन्तु वास्तविक आय कम होगी। क्योंकि अधिक परिश्रम करने से स्वास्थ्य की हानि होती है। समान मौद्रिक आय वाले फोरमैन के कार्य से अध्यापक या प्रोफेसर का कार्य अधिक आरामदायक होता है। अतः इनकी वास्तविक आय अधिक होती है।

6. भविष्य में आय वृद्धि की आशा:—यदि ऐसा व्यवसाय हो जिसमें प्रारम्भिक आय भले ही कम हो किन्तु भविष्य में उन्नति होने और अधिक आय प्राप्ति की आशा हो तब वास्तविक आय अधिक होगी।

7. प्रशिक्षण का समय और व्यय:—व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्राप्त होने वाली आय को प्राप्त करने योग्य बनने में लगने वाले समय और

करनी पड़ती है। ऐसा वह जनता पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर (Taxes) शुल्क, (Fees) जुर्माना, (Fine) महसूल (Duties) आदि लगाकर प्राप्त करती है। व्यय के लिए थोड़े साधन स्वयं वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन व बिक्री करके प्राप्त करती है। कुछ लोग सरकार को उपहार, अनुदान आदि भी देते हैं। अतः सरकारी आय का आशय मुद्रा और वस्तुओं की उस राशि से होता है जो उसे निश्चित अवधि में कर, शुल्क, जुर्माने, महसूल, सार्वजनिक उपक्रम सरकारी सम्पत्ति की बिक्री, अनुदान आदि के रूप में प्राप्त होती है। प्रत्येक सरकार के बजट से उसकी वार्षिक आय और उसके स्रोतों का ज्ञान हो सकता है।

राष्ट्रीय आय (National Income)—किसी देश की समस्त उत्पादक इकाइयों की कुल वास्तविक उत्पत्ति के योग को राष्ट्रीय आय कहते हैं। इतनी गणना एक निश्चित समय बहुधा एक वर्ष के सन्दर्भ में की जाती है। मार्शल के अनुसार "देश के प्राकृतिक साधनों पर श्रम और पूंजी कार्य करके प्रति वर्ष कुछ भौतिक और अभौतिक वस्तुयें तथा सेवायें उत्पन्न करते हैं। इसे ही शुद्ध वार्षिक आय या राष्ट्रीय लाभांश या राष्ट्रीय आय कहते हैं।" इस प्रकार राष्ट्रीय आय समस्त देशवासियों द्वारा एक वर्ष में उत्पन्न शुद्ध वास्तविक आय का योग होता है जिसमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय भी सम्मिलित होती है।

आय का उपयोग

(स) सम्पत्ति से प्राप्त आय और व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्राप्त आय

(Income from Property and Income from Personal efforts)

सम्पत्ति से प्राप्त आय—कुछ व्यि[illegible] अपने प्रयत्नों से नहीं [illegible] त्ति के स्वामी होने के नो [illegible] । भूमि और [illegible] लगान, [illegible] अंश पूंजी [illegible] ादि से प्र [illegible] ती है। [illegible] ार्य करने [illegible] ोती है

वह इस वर्ग में आती है। वेतन और मजदूरी, डाक्टर, प्रोफेसर, अभिनेता, कुली, व्यापारी आदि की आय एवं स्वयं द्वारा नियोजित (Self employed) व्यक्तियों की आय व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्राप्त आय कहलाती है।

प्राप्त आय को या तो वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि पर खर्च किया जाता है या भावी आवश्यकताओं की संतुष्टि पर। आय के प्रथम प्रकार के उपयोग को उपभोग या व्यय और दूसरे प्रकार के उपयोग को बचत कहते हैं।

आय का उपभोग या व्यय (Expenditure) —मनुष्य को होने वाली आवश्यकताओं की अनुभूति ही मनुष्य को आय प्राप्त करने का प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करती है। अतः मनुष्य प्राप्त आय का अधिकांश भाग अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उपयोग में लाता है। आय के इस प्रकार उपयोग करने को उपभोग या व्यय कहते हैं। मनुष्य को जीवित रहने, कार्य कुशलता बनाये रखने, सामाजिक प्रतिष्ठा और सुखी जीवन के लिए कुछ वस्तुओं एवं सेवाओं की आवश्यकता होती है। इनकी उपलब्धि प्राप्त आय को व्यय करके ही हो सकती है। साथ ही भविष्य अनिश्चित होता है और वर्तमान आवश्यकतायें अधिक तीव्र अनुभव होती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति सर्व प्रथम वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि करने का प्रयत्न करता है। वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उपयोग में लाये गये आय के भाग को ही व्यय या उपभोग कहते हैं। आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि विवेकपूर्ण (Rational) व्यय पर निर्भर है। एक व्यक्ति का जीवन अधिक व्यय करने पर भी अधिक सुखी नहीं सकता यदि वह उसे सोच विचार कर व्यय नहीं करता और शराब आदि हानिप्रद वस्तुओं पर व्यय करता हो। इसके विपरीत सोच विचार कर किया हुआ व्यय चाहे इसकी मात्रा कम ही हो जीवन को अधिक सुखी बना सकता है। व्यय पर ही जीवन स्तर और कार्य क्षमता निर्भर करती है।

बचत (Saving)—मनुष्य अपनी समस्त आय का

आवश्यताओं की संतुष्टि के लिए ही उपयोग में नहीं लाता। वह आय के कुछ भाग को अपनी या अपने आश्रितों की भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी काम में लाना चाहता है। इस प्रकार वह प्राप्त आय का कुछ भाग ही व्यय करता है। व्यय नहीं की गई आय के भाग को बचत कहते हैं। अर्थात आय में से उपभोग पर किया गया व्यय निकालने के पश्चात जो कुछ बचता है वह बचत कहलाती है। उदाहणार्थ यदि एक व्यक्ति की आय 500 रु० हो उसमें से वह 400 रु० व्यय कर देता है तो उसकी बचत 100 रु० होगी। दूरदर्शिता, पारिवारिक स्नेह, शक्ति व सम्मान की इच्छा, व्यवहारिक उन्नति, व्याज का लाभ, आदि बचत करने की प्रेरणा देते हैं। व्यक्ति की बचत मुख्य रूप से उसकी वास्तविक आय, मुद्रा की क्रय शक्ति, मुद्रा मूल्य की स्थिरता, परिवार की संख्या, जीवन स्तर व्यय की विवेकशीलता, जीवन दर्शन (philosophy of life) सामाजिक व धार्मिक रीति रिवाज, निवेश के लाभप्रद अवसर, सरकारी नीति, शान्ति, सुरक्षा आदि पर निर्भर करती है।

व्यय और बचत

व्यय और बचत दोनों परस्पर संबन्धित हैं। निश्चित आय में से व्यय के घटने के साथ साथ बचत बढ़ती घटती है। कुछ लोग व्यय को अधिक महत्त्व देते हैं और कुछ लोग बचत को। किंतु व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टिकोण से व्यय और बचत दोनों का अपना अपना महत्त्व है। इन दोनों में उचित अनुपात होना आवश्यक है। समाज के कुल व्यय पर ही कुल माँग निर्भर करती है। यदि व्यय अधिक होगा तो वस्तुओं और सेवाओं की कुल माँग बढ़ेगी इससे उत्पादन, आय और रोजगार में वृद्धि होगी। यदि व्यय कम होगा तो इसके विपरीत प्रभाव पड़ेगे और बेरोजगारी बढ़ेगी। किंतु अत्यधिक व्यय से वस्तुओं के मूल्यों में तेजी आती है और बचत कम होने से पूंजी की कमी पड़ जाती है। अतः कभी कभी मूल्य वृद्धि को रोकने और विकास के लिए आर्थिक साधन जुटाने के लिए व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्तर पर व्यय

प्रयोग नहीं होता है इसलिए यह देश के साधनों का अपव्यय है। और इसे हतोत्साहित करना चाहिए।

(च) निवेश (Investment)—बचत का वह भाग जो व्यक्ति उत्पादक कार्यों में नियोजित कर देता है निवेश कहलाता है। व्यक्ति अपनी बचत में से अधिकांश राशि उद्योग व्यवसाय में लगा देते हैं इसे हम निवेश कहते हैं। हम जानते हैं कि धन का वह भाग जो और अधिक धनोत्पत्ति में सहायक हो पूंजी कहलाता है। इसी प्रकार आय का वह भाग जो और अधिक धनोत्पत्ति के लिए उपयोग में लाया जाय निवेश कहलाता है। इस प्रकार पूंजी और निवेश में पारस्परिक सम्बन्ध है। पूंजी आय उत्पन्न करती है इस आय का जो भाग और अधिक आय प्राप्त करने के काम में लाया जाता है उसे निवेश कहते हैं। इस प्रकार निवेश का आशय पूंजी में वृद्धि है। अन्य शब्दों में नवीन पूंजी निर्माण को निवेश कहते हैं। यह कई रूपों में हो सकता है जैसे भवन, मशीनें और उपकरण, निर्मित और अर्धनिर्मित सामग्री। निवेश व्यय कुल व्यय का वह भाग होता है जो उस उत्पत्ति पर व्यय किया जाता है जिसे वर्तमान में उपभोग नहीं किया जावे। राष्ट्रीय आय के विश्लेषण में केवल वह राशि ही निवेश गिनी जाती है जो नवीन पूंजीगतवस्तुओं के क्रय के लिए व्यय की जावे। लेकिन यदि कोई व्यक्ति कुछ बोन्ड और प्रतिभूतियाँ (Bonds and Securities) क्रय करता है तो इनका सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि जहाँ एक व्यक्ति ने निवेश किया है वहाँ जिस व्यक्ति ने इन्हें बेचा है अनिवेश (Disinvestment) किया है। इस प्रकार के निवेश को वित्तीय निवेश (Financial Investment) कहते हैं। अतः सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से नवीन पूंजी पदार्थों (Capital goods) के निर्माण करने को ही निवेश या विनियोग कहते हैं।

कुल निवेश और शुद्ध निवेश (Gross and net Investment)

आय के उस भाग को जो उत्पादन कार्यों में प्रयुक्त किया जावे अर्थात् पूंजीगत वस्तुओं में बदला जावे कुल निवेश कहते हैं। एक

निश्चित अवधि में नवीन पूंजीगत पदार्थों का कुल मात्रा (new equipment) कुल निवेश कहलाती है। इस प्रकार कुल निवेश का आशय नवीन पूंजी निर्माण से है। किंतु वास्तविक निवेश सदैव इससे कम होता है। किसी देश में कुल पूंजी-सामग्री की मात्रा दी हुई अवधि में नवीन पूंजीगत पदार्थों की मात्रा के बराबर नहीं बढ़ती क्योंकि इस अवधि में पुराने पूंजीगत पदार्थों के मूल्य में ह्रास होता रहता है। उत्पादन प्रक्रिया में प्रयुक्त मशीनें, भवन, उपकरण आदि की उपयोगिता और मूल्य समय और उपयोग के साथ घटता रहता है। उनमें टूट फूट और घिसावट होती हैं। इसे पूंजी का मूल्य ह्रास (Depreciation) या पूंजी का उपभोग (Capital consumption) कहते हैं जिसके परिणाम स्वरूप प्रारम्भिक पूंजीगत पदार्थों (Initial equipment) का मूल्य कम हो जाता है। कुल निवेश में से पुरानी या प्रारम्भिक पूंजी के ह्रास का मूल्य निकालने के पश्चात जो कुछ बचता है उसे वास्तविक निवेश कहते हैं। दूसरे शब्दों में दी हुई अवधि (साधारणतया एक वर्ष) में प्रारम्भिक पूंजीगत वस्तुओं में शुद्ध वृद्धि (Net Increment) को शुद्ध निवेश कहते हैं। यह वर्ष के अन्त और प्रारम्भ में कुल पूंजीगत पदार्थों का अन्तर है।

कुल निवेश (Gross Investment)—नये पूंजीगत पदार्थ (New equipment)।

शुद्ध निवेश (Net investment)—नये पूंजीगत पदार्थ—पूंजी का मूल्य ह्रास।

पूंजी निवेश या निवेश व्यय का अर्थव्यवस्था के संचालन में महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह सत्य है कि प्रत्येक अर्थ व्यवस्था में कुल व्यय का अधिकांश भाग उपभोग व्यय होता है किंतु अर्थव्यवस्था में आय और रोजगार के स्तर में परिवर्तन मुख्य रूप से निवेश व्यय में उतार चढ़ाव के कारण ही होते हैं और उपभोग व्यय की अपेक्षा निवेश व्यय में अधिक तीव्र उतार चढ़ाव आते हैं। निवेश की मात्रा लाभ और पूंजी की सीमान्त कुशलता (Marginal-effic'

Capital) पर निर्भर करती है। निवेश का महत्व दीर्घकालीन दृष्टिकोण से भी बहुत अधिक है। इसके कारण देश की उत्पादक क्षमता में वृद्धि होती है और रोजगार और आय बढ़ती है।

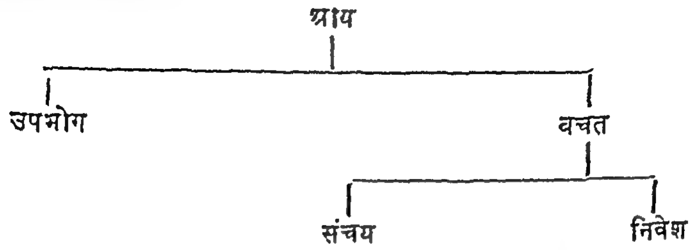

सारांश

आय का स्रोत उत्पादन—प्राचीन काल में मनुष्य आवश्यकतायें अपने ही प्रयत्नों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट करते थे। आधुनिक युग में आवश्यकताओं की सन्तुष्टि आय के द्वारा की जाती है। इस आय का स्रोत उत्पादन है। मनुष्य अपने प्रयत्नों द्वारा उत्पादन करके आय प्राप्त करता है।

आय का अर्थ—मनुष्यों के द्वारा समय विशेष में किये गये कार्य, सेवा, प्रयत्न, या सम्पत्ति के उपयोग के बदले में जो धन या मुद्रा प्राप्त होती है उसे आय कहते हैं।

आय का महत्व—आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए पर्याप्त मात्रा में आय होना आवश्यक है। आय की वृद्धि से जीवन स्तर और कार्य कुशलता में वृद्धि होती है। सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी आय का बहुत महत्त्व हैं।

आय के प्रकार—(अ) मौद्रिक और वास्तविक आय (ब) व्यक्तिगत, सरकारी व राष्ट्रीय आय (स) सम्पत्ति से प्राप्त आय और व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्राप्त आय।

वास्तविक आय को प्रभावित करने वाली बातें—(1) मौद्रिक आय (2) मूल्य स्तर (3) नकद आय के अतिरिक्त अन्य लाभ (4) अन्य सुविधायें (5) भविष्य में आय वृद्धि की आशा (6)

प्रशिक्षण का समय और व्यय (7) सामाजिक प्रतिष्ठा (8) सामाजिक शर्तें (9) आय प्राप्ति का ढंग।

आय का उपयोग दो प्रकार से किया जाता है—(अ) उपभोग वर्तमान आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उपयोग में लाये गये आय के भाग को उपभोग या व्यय कहते हैं। (ब) बचत—आय के उस भाग को जिसे उपभोग या व्यय नहीं किया गया है बचत कहते हैं।

बचत के भी दो उपयोग होते हैं—(अ) निसंचय—संचय बचत का जो भाग अनुत्पादक रूप में जमीन में गाड़कर या तिजोरी में बन्द करके रखा जाता है निसंचय कहलाता है। (ब) निवेश—बचत का वह भाग जो व्यक्ति उत्पादक कार्यों में लगा देता है निवेश कहलाता है। निवेश का तात्पर्य नवीन पूंजी निर्माण या पूंजी में वृद्धि है। एक निश्चित अवधि में नवीन पूंजीगत पदार्थों की कुल मात्रा को कुल निवेश कहते हैं। पूंजी के मूल्य में उपयोग और समय के साथ ह्रास होता रहता है। अतः कुल निवेश में से प्रारम्भिक पूंजी के ह्रास का मूल्य निकालने के पश्चात् भी कुछ बचता है उसे वास्तविक निवेश कहते हैं। पूंजीगत वस्तुओं में शुद्ध वृद्धि को शुद्ध निवेश कहते हैं।

प्रश्न

1. आय किसे कहते हैं ? आय का महत्व और उपयोग बतलाइये।
2. बचत से आप क्या समझते हैं ? बचत का महत्व और उपयोग बतलाइये।
3. निवेश का क्या तात्पर्य है ? कुल निवेश और वास्तविक निवेश में क्या अन्तर है।
4. मौद्रिक आय और वास्तविक आय में अन्तर बतलाते हुए वास्तविक आय को प्रभावित करने वाली बातों पर प्रकाश डालिये।
5. टिप्पणियां लिखिये—
   पूंजी का मूल्य ह्रास, निवेश का महत्व, आय के प्रकार
5. अर्थ व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए उपभोग और संतुलन आवश्यक है। इस कथन की पुष्टि कीजिये।

Capital) पर निर्भर करती है। निवेश का महत्व दीर्घकालीन दृष्टिकोण से भी बहुत अधिक है। इसके कारण देश की उत्पादक क्षमता में वृद्धि होती है और रोजगार और आय बढ़ती है।

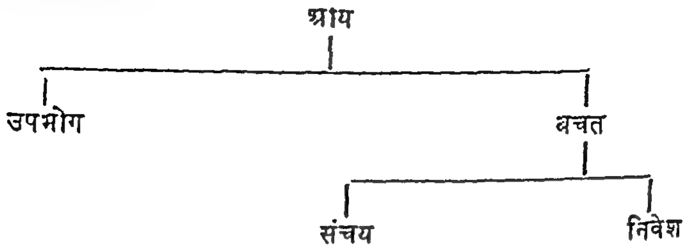

सारांश

आय का स्रोत उत्पादन—प्राचीन काल में मनुष्य आवश्यकतायें अपने ही प्रयत्नों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट करते थे। आधुनिक युग में आवश्यकताओं की सन्तुष्टि आय के द्वारा की जाती है। इस आय का स्रोत उत्पादन है। मनुष्य अपने प्रयत्नों द्वारा उत्पादन करके आय प्राप्त करता है।

आय का अर्थ—मनुष्यों के द्वारा समय विशेष में किये गये कार्य, सेवा, प्रयत्न, या सम्पत्ति के उपयोग के बदले में जो धन या मुद्रा प्राप्त होती है उसे आय कहते हैं।

आय का महत्त्व—आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए पर्याप्त मात्रा में आय होना आवश्यक है। आय की वृद्धि से जीवन स्तर और कार्य कुशलता में वृद्धि होती है। सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी आय का बहुत महत्त्व हैं।

आय के प्रकार—(अ) मौद्रिक और वास्तविक आय (ब) व्यक्तिगत, सरकारी व राष्ट्रीय आय (स) सम्पत्ति से प्राप्त आय और व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्राप्त आय।

वास्तविक आय को प्रभावित करने वाली बातें—(1) मौद्रिक आय (2) मूल्य स्तर (3) नकद आय के अतिरिक्त अन्य लाभ (4) अन्य सुविधायें (5) भविष्य में आय वृद्धि की आशा (6)

प्रशिक्षण का समय और व्यय (7) सामाजिक प्रतिष्ठा (8) सामाजिक शर्तें (9) आय प्राप्ति का ढंग।

आय का उपयोग दो प्रकार से किया जाता है—(अ) उपभोग वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए उपयोग में लाये गये आय के भाग को उपभोग या व्यय कहते हैं। (ब) बचत—आय के उस भाग को जिसे उपभोग या व्यय नहीं किया गया है बचत कहते हैं।

बचत के भी दो उपयोग होते हैं—(अ) निसंचय—संचय बचत का जो भाग अनुत्पादक रूप में जमीन में गाड़कर या तिजोरी में बन्द करके रखा जाता है निसंचय कहलाता है। (ब) निवेश—बचत का वह भाग जो व्यक्ति उत्पादक कार्यों में लगा देता है निवेश कहलाता है। निवेश का तात्पर्य नवीन पूंजी निर्माण या पूंजी में वृद्धि है। एक निश्चित अवधि में नवीन पूंजीगत पदार्थों की कुल मात्रा को कुल निवेश कहते हैं। पूंजी के मूल्य में उपयोग और समय के साथ ह्रास होता रहता है। अतः कुल निवेश में से प्रारम्भिक पूंजी के ह्रास का मूल्य निकालने के पश्चात् भी कुछ बचता है उसे वास्तविक निवेश कहते हैं। पूंजीगत वस्तुओं में शुद्ध वृद्धि को शुद्ध निवेश कहते हैं।

प्रश्न

1. आय किसे कहते हैं ? आय का महत्व और उपयोग बतलाइये।
2. बचत से आप क्या समझते हैं ? बचत का महत्व और उपयोग बतलाइये।
3. निवेश का क्या तात्पर्य है ? कुल निवेश और वास्तविक निवेश में क्या अन्तर है।
4. मौद्रिक आय और वास्तविक आय में अन्तर बतलाते हुए वास्तविक आय को प्रभावित करने वाली बातों पर प्रकाश डालिये।
5. टिप्पणियां लिखिये—
   पूंजी का मूल्य ह्रास, निवेश का महत्व, आय के प्रकार
6. अर्थ व्यवस्था के सुचारू सचालन के लिए उपभोग और निवेश में संतुलन आवश्यक है। इस कथन की पुष्टि कीजिये।

12

राष्ट्रीय आय

NATIONAL INCOME

"ये दोनों विचार राष्ट्रीय लाभांश और आर्थिक कल्याण एक दूसरे से इस प्रकार गुंथे हुए हैं कि एक के विषय का तनिक वर्णन दूसरे विषय के उतने ही वर्णन को आवश्यक बना देता है।"

—ए. सी. पीगू

राष्ट्रीय आय का अर्थ (Meaning of National Income):—

जिस प्रकार किसी व्यक्ति की सम्पन्नता उसके पास उपयोग के लिए उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर होती है उसी प्रकार एक राष्ट्र की सम्पन्नता उस देश के निवासियों के पास उपयोग के हेतु उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर होती है। देशवासियों को उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा उस देश के समस्त उत्पादन के साधनों द्वारा प्रति वर्ष की उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय पर निर्भर करती है। एक वर्ष में देश में उत्पन्न हुई सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में से उनके उत्पन्न करने में आये कच्चे व अर्ध-कच्चे माल का मूल्य उत्पन्न करने में प्रयुक्त मशीनों की घिसाई तथा अन्य खर्चे कम करने के बाद जो बचता है उसे राष्ट्रीय आय कहते हैं। किसी देश की राष्ट्रीय आय उस देश में एक वर्ष में उत्पन्न की गई सभी वस्तुओं और सेवाओं का

गणना करना कठिन है। इसमें एक ही वस्तु की एक से अधिक बार गणना का भय रहता है। इसके अलावा राष्ट्रीय आय में उन वस्तुओं और सेवाओं की जिन्हें व्यक्ति स्वयं अपने या अपने सम्बन्धियों के लिए बिना आर्थिक लाभ के ध्येय से करता है गणना नहीं करना उचित नहीं है।

2. श्री ए. सी. पीगू (A. C. Pigou) के अनुसार : 'राष्ट्रीय आय किसी समुदाय वास्तविक आय का वह भाग है जिसे मुद्रा के द्वारा मापा जा सकता है। इसमें विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल होती है।'

पीगू के अनुसार इस प्रकार राष्ट्रीय आय में उत्पादन के उस भाग को शामिल नहीं किया जाता जिसको मुद्रा के माप दण्ड द्वारा नहीं मापा जा सकता। पीगू की इस परिभाषा की भी आलोचना की जाती है कि पीगू राष्ट्रीय आय में ऐसी अनेक वस्तुएं और सेवाएं शामिल नहीं करते जो उन वस्तुओं और सेवाओं से भिन्न न हों जो इसमें शामिल की जाती हैं। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति घर के कार्य के लिए नौकरानी रखता है उस समय उस नौकरानी की सेवाएं राष्ट्रीय आय में शामिल हो जाती हैं, परन्तु जब वह उस नौकरानी से विवाह कर लेता है, तब उसकी सेवाएं राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं होतीं जब कि दोनों अवस्थाओं में की गई सेवाओं में कोई भिन्नता नहीं है। इसके अलावा पीगू के अनुसार यदि एक किसान अपनी कुल उपज को बेच देता है और अपने उपयोग के लिए फिर से अनाज को खरीद लेता है तो सारी उपज का मूल्य राष्ट्रीय लाभांश में जुड़ जाता है परन्तु यदि वह इस उपज का आधा भाग अपने उपयोग के लिए रख लेता है तो यह आधा भाग लाभांश में सम्मिलित नहीं किया जाता जब कि इसको भी राष्ट्रीय आय में शामिल किय [illegible] ।

3. प्रो० फिशर (Prof. Fisher) के [illegible] ्रीय अथवा लाभांश में अन्तिम उपभोक्ताओं को [illegible]

[illegible]

है चाहे ये भौतिक वातावरण के कारण उत्पन्न हुई हो चाहे मानवीय वातावरण के कारण ।"

इस प्रकार फिशर ने राष्ट्रीय आय का आधार उत्पादन के स्थान पर उपभोग माना है। उनके अनुसार किसी वर्ष में बनाये गये ओवर कोट का पूरा मूल्य राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जायेगा अपितु इसका जितना उपभोग इस वर्ष में हुआ है उसका मूल्य ही इसमें शामिल किया जायेगा। प्रो. फिशर की परिभाषा इस दृष्टि से बड़ी उपयुक्त है कि उसने इसका आधार उत्पादन के स्थान पर उपभोग माना है परन्तु इस सम्बन्ध में बहुत बड़ी कठिनाई कई वर्षों तक चलाने वाली वस्तुओं की है। उन वस्तुओं का उस वर्ष से सम्बन्धित मूल्य निकालना लगभग असम्भव सा ही होता है।

4. प्रो. साइमन कुजनेट्स(Prof. Simen Kuznets) के अनुसार—"राष्ट्रीय आय वस्तुओं तथा सेवाओं की विशुद्ध उत्पत्ति है जो अंतिम उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचती है अथवा देश के पूंजीगत माल के स्टाक में वृद्धि करती है।"

इस प्रकार फिशर की भांति कुजनेट्स भी सम्पूर्ण उत्पादन का वह भाग राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करते हैं जो उपभोक्ताओं के हाथ में पहुँचता है किन्तु वे उसमें पूंजीगत माल की सम्पूर्ण राशि सम्मिलित करते हैं।

5. डाक्टर वी. के. आर. वी. राव (Dr. V. K. R. V. Rao) के शब्दों में—"राष्ट्रीय आय वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक मूल्य (Money Price) द्वारा सूचित होता है।"

डा. वी. के. आर. वी. राव ने पीगू की परिभाषा को अपना आधार माना है। डा. राव के अनुसार इन सभी वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य वर्तमान मूल्यों द्वारा निकाला जाता है। सभी सेवाओं का इस प्रकार मूल्य निकालने के पश्चात जो है उसमें से इनका मूल्य निकाल दिया जाता है—(

का मूल्य ह्रास (ii) पूंजीगत वस्तुओं को वर्तमान स्थिति में बनाये रखने का खर्चा (iii) अनुकूल व्यापार शेष का मौद्रिक मूल्य (iv) देश के विदेशी ऋणों में वास्तविक वृद्धि (v) उत्पादन कार्य में उपयोग में लाई गई वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य (vi) राज्य को परोक्ष करों से प्राप्त आय।

राष्ट्रीय आय के स्वरूप

Forms of National Income

कुल राष्ट्रीय आय और शुद्ध राष्ट्रीय आय (Gross National Income and Net National Income)—

कुल राष्ट्रीय आय (Gross National Income)—देश में एक वर्ष में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के कुल मौद्रिक मूल्य को कुल राष्ट्रीय आय कहा जाता है। एक देश में एक वर्ष की अवधि में विभिन्न प्रकार और मूल्य की वस्तुयें और सेवायें उत्पन्न की जाती हैं। इनका मुद्रा में मूल्यांकन किया जाता है। इसका योग ही कुल राष्ट्रीय आय होता है। यदि सन 1967 में किसी देश में अ, ब, स आदि वस्तुयें उत्पन्न की जाती हैं जिनकी कीमतें क्रमशः क, ख, ग आदि हैं तो सन 1967 की कीमतों पर उस देश की कुल राष्ट्रीय आय= अक+बख+सग.......होगी! कुल राष्ट्रीय आय का मूल्य बाजार कीमतों में उपरोक्त रीति से निकाला जाता है परन्तु हम इसकी गणना साधनों की कीमतों के आधार पर भी कर सकते हैं। यदि कुल राष्ट्रीय आय के बाजार कीमतों पर निकाले हुए मूल्य में से कुल परोक्ष करों की राशि निकाल दें तो शेष "साधन कीमतों" (Factor Prices) पर कुल या सकल राष्ट्रीय आय का मूल्य होता है। इस प्रकार "साधन कीमतों" पर कुल राष्ट्रीय आय बराबर है। बाजार कीमतों पर कुल राष्ट्रीय आय—परोक्ष कर (कुल उत्पादन व्यय लाभ को भी सम्मिलित करते हुए)

शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income)—उत्पादन में

अर्थ पूंजी पदार्थों के उपयोग से घिसावट व टूट फूट होती है। पुरानी मशीनों को बदलने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार प्राकृतिक आपदायें जैसे बाढ़, भूकम्प इत्यादि कुल पूंजी नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार पूंजीगत सामग्री का प्रतिस्थापन आवश्यक होता है। इसलिये यदि कुल राष्ट्रीय आय में से वर्ष भर की पूंजी की घिसावट निकाल दी जाय तो शुद्ध राष्ट्रीय आय प्राप्त हो जाती है।

2. मौद्रिक आय और वास्तविक आय (Money Income and Real Income)—मौद्रिक आय से अभिप्राय किसी देश की राष्ट्रीय आय का मौद्रिक माप है जबकि वास्तविक आय से वस्तुयें और सेवायें होती हैं जिन्हें हम आय से खरीद सकते हैं। अनेक बार ऐसा होता है कि किसी देश की मौद्रिक आय में निरन्तर वृद्धि होती रहती है परन्तु मुद्रा के मूल्य में ह्रास होता रहता है। फलतः मौद्रिक आय तो बढ़ी हुई ज्ञात होती है परन्तु वास्तविक आय नहीं बढ़ती है। उदाहरण के लिए यदि एक देश में दो विभिन्न वर्षों में समान मात्रा में वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है किन्तु दूसरे वर्ष वस्तुओं के मूल्य 20% बढ़ जाते हैं तो वास्तविक दृष्टि से तो राष्ट्रीय आय में कोई वृद्धि नहीं हुई किन्तु मौद्रिक आय 20% बढ़ी हुई प्रतीत होगी। इसी कमी को दूर करने और अर्थ पूर्ण तुलनात्मक समीक्षा के लिए विभिन्न देश स्थिर मूल्यों (constant Prices) और प्रचलित मूल्यों (current Prices) पर राष्ट्रीय आय की गणना करते हैं।

राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय (National Percapita Income)—राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में भी अन्तर होता है। किसी देश की किसी वर्ष की आय राष्ट्रीय आय कहलाती है। इस राष्ट्रीय आय में जनसंख्या का भाग देने पर प्रति व्यक्ति की आय होती है। विभिन्न देशों या एक ही देश की विभिन्न समयों पर तुलना के लिए प्रति व्यक्ति आय का आधार अधिक उचित माना जाता है क्योंकि वह आर्थिक स्थिति का सही प्रतिनिधित्व करता है। प्रो. जे. आर हिक्स (Prof. J. R Hicks इस प्रकार की तुलना के लिये राष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या के

का मूल्य ह्रास (ii) पूंजीगत वस्तुओं को वर्तमान स्थिति में बनाये रखने का खर्चा (iii) अनुकूल व्यापार शेष का मौद्रिक मूल्य (iv) देश के विदेशी ऋणों में वास्तविक वृद्धि (v) उत्पादन कार्य में उपयोग में लाई गई वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य (vi) राज्य को परोक्ष करों से प्राप्त आय।

राष्ट्रीय आय के स्वरूप

Forms of National Income

कुल राष्ट्रीय आय और शुद्ध राष्ट्रीय आय (Gross National Income and Net National Income)—

कुल राष्ट्रीय आय (Gross National Income)—देश में एक वर्ष में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के कुल मौद्रिक मूल्य को कुल राष्ट्रीय आय कहा जाता है। एक देश में एक वर्ष की अवधि में विभिन्न प्रकार और मूल्य की वस्तुयें और सेवायें उत्पन्न की जाती हैं। इनका मुद्रा में मूल्यांकन किया जाता है। इसका योग ही कुल राष्ट्रीय आय होता है। यदि सन 1967 में किसी देश में अ, ब, स आदि वस्तुयें उत्पन्न की जाती हैं जिनकी कीमतें क्रमशः क, ख, ग आदि हैं तो सन 1967 की कीमतों पर उस देश की कुल राष्ट्रीय आय= अक+बख+सग·······होगी! कुल राष्ट्रीय आय का मूल्य बाजार कीमतों में उपरोक्त रीति से निकाला जाता है परन्तु हम इसकी गणना साधनों की कीमतों के आधार पर भी कर सकते हैं। यदि कुल राष्ट्रीय आय के बाजार कीमतों पर निकाले हुए मूल्य में से कुल परोक्ष करों की राशि निकाल दें तो शेष "साधन कीमतों" (Factor Prices) पर कुल या सकल राष्ट्रीय आय का मूल्य होता है। इस प्रकार "साधन कीमतों" पर कुल राष्ट्रीय आय बराबर है। बाजार कीमतों पर कुल राष्ट्रीय आय—परोक्ष कर (कुल उत्पादन व्यय लाभ को भी सम्मिलित करते हुए)

शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income)—उत्पादन में

उनके व्यवसायों के अनुसार निकाल ली जाती है तत्पश्चात् उसका योग कर दिया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि राष्ट्रीय आय में युद्ध के विशेष भत्ते, वृद्धावस्था पेन्शन आदि को शामिल नहीं करना चाहिए क्योंकि इनसे प्राप्त आय किसी व्यवसाय से प्राप्त नहीं होती। इन अर्थशास्त्रियों में स्टाम्प (Stamp) की गणना विशेष रूप से होती है।

5. मिश्रित प्रणाली (Mixed Method):–इस प्रणाली में उत्पादन प्रणाली तथा आय गणना प्रणाली को मिलाकर राष्ट्रीय आय ज्ञात की जाती है। मिश्रित प्रणाली में कुछ व्यवसाय जैसे कृषि, दुग्ध व्यवसाय खनिज आदि की आय उत्पादन गणना प्रणाली के अनुसार और सरकारी एवं गैर सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों की आय-गणना प्रणाली के अनुसार ज्ञात की जाती है। डा. वी. के. आर. वी. राव ने भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने में इस पद्धति का उपयोग किया है।

राष्ट्रीय आय का महत्त्व और आर्थिक प्रगति

किसी भी देश के लिए उस देश की राष्ट्रीय आय और उसके स्वरूप का बड़ा महत्त्व होता है। राष्ट्र की शक्ति, सम्पन्नता और समृद्धि उस देश की राष्ट्रीय आय पर निर्भर होती है। यह उस देश की आर्थिक प्रगति का मुख्य आधार प्रस्तुत करती है। राष्ट्रीय आय के समंक (Statistics) अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होते हैं। राष्ट्रीय आय से उस देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय के समंकों से उन देशों की तुलनात्मक जानकारी प्राप्त होती है। इससे उन देशों की आर्थिक स्थिति, जीवन स्तर, विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों का महत्त्व, धन के वितरण की प्रकृति आदि का पता चलता है। राष्ट्रीय आय के आंकड़ों से यह जाना जा सकता है कि देश का आर्थिक विकास हो रहा है या नहीं। बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय देश के आर्थिक विकास और प्रगति की सूचक होती है। राष्ट्रीय आय के आंकड़ों से ही यह जाना जा सकता है कि गत वर्षों में अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में क्या परिवर्तन हुए हैं।

उतना ही अधिक प्रति व्यक्ति आय होगी, और जितनी अधिक प्रति व्यक्ति आय होगी, उतना ही ऊंचा जीवन स्तर होगा। इस प्रकार राष्ट्रीय आय लोगों का जीवन स्तर प्रभावित करती है।

(2) **उत्पादन में वृद्धि**—नागरिकों की कार्य क्षमता उनके जीवन स्तर पर निर्भर होती है। अधिक राष्ट्रीय आय नागरिकों के जीवन स्तर में सुधार करके उनको अधिक कार्य कुशल बनाती है और उनकी उत्पादकता में वृद्धि करती है। इससे उत्पादन में वृद्धि होती है। राष्ट्रीय आय की मात्रा अधिक होगा पर बचत (Saving) और निवेश (Investment) की मात्रा भी अधिक होगी जिससे वर्तमान उद्योगों के विकास और नवीन उद्योगों के प्रादुर्भाव के लिए अधिक पूंजी उपलब्ध होगी। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में वृद्धि से उत्पादन बढ़ेगा और आर्थिक उन्नति होगी।

(3) **प्राकृतिक साधनों का उपयोग और आर्थिक विकास**—प्रत्येक देश अपने प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करके शीघ्र आर्थिक विकास करना चाहता है। देश की आर्थिक उन्नति उस देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों जैसे जलवायु, वन, खनिज, मिट्टी, जल आदि के पूर्ण सदुपयोग पर निर्भर करती है। किन्तु इन साधनों के उपयोग के लिए भारी मात्रा में वित्तीय साधनों की आवश्यकता होती है जिनको उपलब्धि का मुख्य साधन राष्ट्रीय आय ही है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि पर प्राकृतिक साधनों के विकास की योजनाओं के लिए अधिक राशि उपलब्ध होगी और देश द्रुतगति से आर्थिक प्रगति करेगा। इसके विपरीत यदि राष्ट्रीय आय कम होगी तो उसका अधिकांश भाग वर्तमान आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में ही व्यय हो जावेगा और विकास योजना के लिए साधन उपलब्ध नहीं हो पायेंगे।

(4) **सरकारी आय का साधन**—यदि उत्पादन और राष्ट्रीय आय की मात्रा अधिक है तो सरकार को भी कर आदि के रूप में अधिक आय प्राप्त होगी। राष्ट्रीय आय की अधिकता से प्रति व्यक्ति

आय के बढ़ने पर सरकार कर की दरों में भी वृद्धि कर सकती है। इस प्रकार सरकार को विकास योजनाओं और सुरक्षा कार्य-क्रमों के लिए अधिक साधन उपलब्ध हो सकते हैं।

(5) रोजगार का स्तर—राष्ट्रीय आय अधिक होने पर व्यय करने के लिए लोगों के पास अधिक धन होगा जिससे वस्तुओं की मांग बढ़ेगी। बढ़ी हुई मांग की पूर्ति के लिए नये नये कारखाने खुलेंगे और नये नये व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा। राष्ट्रीय आय में वृद्धि से पूंजी का विनियोग बढ़ेगा जिसका परिणाम भी श्रमिकों की मांग में वृद्धि होगी। इस प्रकार रोजगार का स्तर भी राष्ट्रीय आय की मात्रा पर निर्भर करता है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि से बेकारी कम होगी और आर्थिक प्रगति होगी।

राष्ट्रीय आय से आर्थिक प्रगति होती है—
1. जीवन स्तर की उच्चता
2. उत्पादन की मात्रा में वृद्धि
3. प्राकृतिक साधनों का उपयोग और आर्थिक विकास सम्भव
4. सरकारी आय का साधन
५. रोजगार का स्तर
6. आर्थिक क्रियाओं का स्तर
7. सुरक्षा और राजनीतिक शक्ति

(6) आर्थिक क्रियाओं का स्तर—समस्त आर्थिक क्रियायें—उपभोग, उत्पादन, विनिमय वितरण राजस्व आदि राष्ट्रीय आय पर निर्भर करती हैं। यदि राष्ट्रीय आय अधिक हो तो वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग अधिक होगा जिसके लिए अधिक उत्पादन किया जायेगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय की अधिकता होने पर उसकी उत्पत्ति में भाग लेने वाले साधनों में वितरण भी अधिक होगा। ये साधन इस उत्पत्ति के बदले में अपनी आवश्यक वस्तुयें क्रय करेंगे विनिमय की मात्रा भी बढ़ेगी। इस प्रकार राष्ट्रीय आय समस्त आर्थिक क्रियाओं का विस्तार होगा और

(7) सुरक्षा और राजनीतिक
लिए देश की सुरक्षा, आन्तरिक

सुदृढ़ता आवश्यक होता है। और ये सब राष्ट्रीय आय पर निर्भर करते हैं। यदि राष्ट्रीय आय अधिक होगी तो देश की सुरक्षा और सेना पर अधिक व्यय किया जा सकेगा। इसी प्रकार अधिक आय होने पर जनता भी सन्तुष्ट और सुखी होगी जो कि आन्तरिक शान्ति के लिए आवश्यक है। बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय में से अधिक भाग निर्धन लोगों के लिए व्यय करके उनके असन्तोष को कम किया जा सकता है। यह धन के समान वितरण का अच्छा तरीका है क्योंकि वर्तमान धन को पुनर्वितरण करने से हिंसा और अशांति की सम्भावना होती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय की पर्याप्तता देश को सुरक्षा की दृष्टि से सुदृढ़ बनाकर, आन्तरिक शान्ति और सद्भाव में वृद्धि कर व अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ा के देश की आर्थिक प्रगति में मदद पहुँचाती है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय और आर्थिक प्रगति का गहरा सम्बन्ध है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि आर्थिक प्रगति में बहुत सहायक होती है और आर्थिक प्रगति राष्ट्रीय आय में वृद्धि करती है। इस प्रकार देश का आर्थिक कल्याण (Economic welfare) उस देश की राष्ट्रीय आय पर निर्भर होता है।

राष्ट्रीय आय और सामाजिक कल्याण
(National Income and Social Welfare)

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय की मात्रा और उसके स्वरूप पर देश की आर्थिक प्रगति निर्भर करती है। किन्तु राष्ट्रीय आय में वृद्धि सदा ही आर्थिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में वृद्धि करती हो ऐसा नहीं होता है। सामाजिक कल्याण की तो बात ही क्या आर्थिक कल्याण में वृद्धि की आशा भी हम केवल राष्ट्रीय आय में वृद्धि मात्र से ही नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि सदैव ही आर्थिक और सामाजिक कल्याण में वृद्धि नहीं करती है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप आर्थिक और सामाजिक कल्याण में वृद्धि निम्न बातों पर निर्भर होती है:—

1. आय का वितरण:—यदि राष्ट्रीय आय तो अधिक है या राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हुई है किन्तु इसमें से गरीबो का भाग थोड़ा और धनकों का भाग अधिक हो या धन का असमान वितरण हो तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि से भी सामाजिक कल्याण मे वृद्धि नही होगी

2. जनसंख्या की मात्रा:—यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो किन्तु इसी अवधि मे जन सख्या मे भी उसी अनुपात मे या अधिक वृद्धि हो जाय तो प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि नही होने के परिणामस्वरूप आर्थिक और सामाजिक कल्याण में वृद्धि नहीं होगी।

3. मूल्य स्तर:—यदि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हुई तो किन्तु इसी साथ इसी अनुपात में या उससे अधिक मूल्यों मे वृद्धि हो गई हो तो व्यक्तियों का वस्तुओं और सेवाओं के रूप में उपभोग और जीवन स्तर नहीं बढ़ेगा और इस प्रकार राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने पर भी आर्थिक और सामाजिक कल्याण नहीं बढेगा। उदाहरण के लिए यदि राष्ट्रीय आय 10% बढ जाय किन्तु इस बीच मूल्यो मे 20% की वृद्धि हो जाय तो सामाजिक कल्याण बढने की अपेक्षा घट जायगा।

4. राष्ट्रीय आय का उपयोग.—राष्ट्रीय आय के उपयोग के प्रकार पर भी आर्थिक और सामाजिक कल्याण निर्भर करता है। यदि राष्ट्रीय आय का उपयोग पौष्टिक और स्वास्थ्यप्रद भोजन, उचित शिक्षा, मनोरंजन आदि एव उत्पादक कार्यों के लिए किया जाता है तो आर्थिक और सामाजिक कल्याण अधिक होता है। इसके विपरीत इस आय का अधिकांश भाग यदि शराब, जुआ, सट्टा आदि में व्यय होता हो तो सामाजिक कल्याण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय के परिणाम स्वरूप यदि पुस्तकालय, विद्यालय आदि खुलें, यातायात के साधनों का विकास हो तो अधिक और सामाजिक कल्याण बढ़ेगा किन्तु यदि देश मे शराबघर, सिनेमा घर, आदि खुलें, और लोगो में मद्यपान, जुआ आदि दुर्व्यसनों की रुचि बढ़े तो सामाजिक कल्याण पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

> राष्ट्रीय आय का सामाजिक कल्याण पर प्रभाव निम्न बातों पर निर्भर है—
>
> 1. आय का वितरण
> 2. जनसंख्या की मात्रा
> 3. मूल्य स्तर
> 4. राष्ट्रीय आय का उपयोग
> 5. आय उत्पन्न करने मे
>
> 6

5. आय उत्पन्न करने में त्यागी गई सन्तुष्टि:—समाज का कल्याण राष्ट्रीय आय के उत्पन्न करने के तरीके और उसे पैदा करने में त्याग की सन्तुष्टि पर भी निर्भर करता है। यदि देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि नई नई उत्पादन विधियों के उपयोग या प्रशासन व्यवस्था में सुधार होने से हुई है तो समाज के कल्याण में वृद्धि होगी। किन्तु यदि कार्य के घन्टे बढ़ाकर, स्त्री बच्चों से आवश्यकता से अधिक कार्य लेकर अस्वास्थ्यप्रद वातावरण में श्रमिकों को कार्य करने को विवश करके और इस प्रकार उनके स्वास्थ्य को हानि पहुँचाकर राष्ट्रीय आय में वृद्धि की गई है तो यह समाज के कल्याण की वृद्धि में सहायक नहीं होगी।

6. अन्य परिणाम:—यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय तो अधिक है किन्तु इसके परिणाम स्वरूप देश में नगरों की भीड़-भाड़ अस्वास्थ्यकर वातावरण, नैतिक पतन, दुर्घटनाएँ आदि समस्याओं का जन्म होता है यदि साहित्य, कला और संस्कृति के प्रति रुचि कम होती है तो वास्तव में समाज का वास्तविक कल्याण अधिक नहीं होगा।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि से ही समाज के कल्याण में वृद्धि हो यह आवश्यक नहीं। किन्तु सामान्यतया इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है और अन्य बातें समान रहने पर राष्ट्रीय आय की मात्रा और स्वरूप पर ही समाज का कल्याण निर्भर करता है और इसमें वृद्धि से समाज के कल्याण में भी वृद्धि होती है। सामाजिक कल्याण के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राष्ट्रीय आय की अधिकता के साथ साथ इसका न्यायोचित एवं समान वितरण होना चाहिए।

भारत की राष्ट्रीय आय

प्रत्येक देश की अर्थ व्यवस्था में राष्ट्रीय आय का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। यह उस देश की आर्थिक प्रगति का सूचक होती है। राष्ट्रीय आय समंक अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रकाश डालते हैं जिनसे

सरकार को अपनी नीति निर्धारण में सहायता मिलती है। अतः प्रत्येक देश की सरकार अपनी राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाती है। भारत में भी भिन्न भिन्न समय पर विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा इस ओर प्रयास किये गये हैं। भारत में सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय का अनुमान श्री दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक (Poverty and British Rule in India) 'भारत मे निर्धनता और ब्रिटिश साम्राज्य' में किया। उन्होंने यह अनुमान लगाया कि सन् 1868 में भारत की प्रति व्यक्ति आय 20 रु. थी। इसके पश्चात् भी समय समय पर अनुमान लगाये गये जिनको निम्न तालिका मे बतलाया गया है।

नाम	वर्ष	प्रति व्यक्ति आय रुपये में
1. दादा भाई नौरोजी	1867-68	20.00
2. लार्ड कर्जन	1900	30.00
3. फिंडले शिवराज	1921	107.00
4. डा. वी. के. आर. वी राव	1931-32	65.00
5. वाणिज्य मन्त्रालय	1947-48	214.00
6. योजना आयोग	1961-62	293.02

राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त अनुमानों में पारस्परिक भिन्नता के अनेक कारण है—मूल्य स्तर में असमानता, भिन्न भिन्न क्षेत्रफल होना, विद्वानों के दृष्टिकोण की भिन्नता और अनुमानों में विश्वसनीयता की कमी। स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार ने राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे अनुमान लगाने के लिए अगस्त 1949 में प्रो. पी. सी. महालनवीस (Prof P. C. Mahalonbis) की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) नियुक्त की। समिति ने

और आय गणना दोनों रीतियों के मिश्रण से

49 के सम्वन्ध में वैज्ञानिक आधार पर किया गया अनुमान प्रस्तुत किया। इस अनुमान के अनुसार सन् 1948-49 की राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय तत्कालीन मूल्यों के अनुसार क्रमशः 8650 करोड़ रुपये और 246.9 रुपये था।

निम्न तालिका में राष्ट्रीय समिति द्वारा राष्ट्रीय आय का अनुमान तीन वर्षों में तथा इसके बाद के वर्षों का अनुमान केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा किये गये हैं।

भारत की राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय

वर्ष	राष्ट्रीय आय करोड़ रु. में		प्रति व्यक्ति आय रु० में	
	प्रचलित मूल्यों पर	1948-49 के मूल्यों पर	प्रचलित मूल्यों पर	1948-49 के मूल्यों पर
*				
1948-49	8650	8650	249.6	249·6
1950-51	9530	8850	266·5	247·5
1955-56	9980	10480	255·0	267·8
1960-61	14140	127[illegible]0	325·8	293·3
1961-62	14800	13060	333·2	294·0
1962-63	15400	13310	337·7	291·9
1963-64	17210	13970	368·5	299·2
1964-65	20430	15000	427·2	313·7
1965-66	20340	14660	415·3	292·4
1966-67	23120	14950	460·1	298·0

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत की कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। परन्तु सन् 1965-66 तथा सन् 1966-67 में स्थिति भिन्न रही। सन् 1964-65 में स्थिति सन् 1965-66 से अधिक अच्छी रही।

*Source—India 1968, Page 159

भारत की राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय

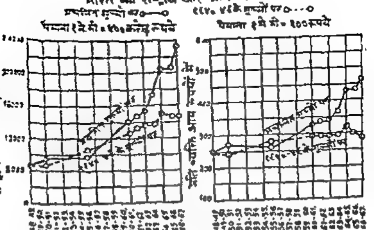

पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय.—(Five Year Plans and National Income) —

प्रथम पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय में 12% वृद्धि का अनुमान लगाया गया था किंतु वास्तविक वृद्धि 18% हुई। सन् 1960-61 के मूल्यों के आधार पर सन् 1950-51 में भारत की राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय जो क्रमशः 10240 करोड़ रुपये तथा 240 रु० थी वह 1955-56 में बढ़कर क्रमशः 12130 करोड़ रु० तथा 306 रु० हो गई। दूसरी योजना में यह वृद्धि 20% हुई।

दूसरी योजना के अन्त में राष्ट्रीय आय 14140 करोड़ रु० और प्रति व्यक्ति आय 324 रु० होगई। तीसरी योजना के अन्त में अर्थात् 1965-66 में राष्ट्रीय आय 15930 करोड़ और प्रति व्यक्ति आय 351 रु० होगई। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय में 5.5% प्रति वर्ष की दर से वृद्धि का अनुमान लगाया गया है। पंचम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक हमारी राष्ट्रीय आय लगभग 27270 करोड़ रुपयों तक पहुँच जायेगी।

औद्योगिक उत्पादन के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय करोड़ रुपयों में

*	1960-61	1963-64	1964-65	1965-66	1966-67
1. कृषि					
(अ) कृषि पशुपालन आदि	6,707	8,473	10,155	9,801	11,59
(ब) वन	169	225	254	277	303
(स) मत्स्य व्यवसाय	78	95	108	124	153
योग	6,954	8.793	10,517	10,202	12,051
2. खनन निर्माण एवं लघु उद्योग					
(अ) उद्योग	1,070	1,519	1,700	1,855	2,051
(ब) खनिज कार्य	144	204	206	237	255
(स) लघु उद्योग	785	1,091	1,185	1.225	1,327
योग	1,999	2,814	3,091	3,317	3,633
3. वाणिज्य, परिवहन तथा संवादवाहन					
(अ) संवादवाहन	64	93	102	119	141
(ब) रेलें	252	352	356	395	398
(स) बैंक तथा बीमा	158	249	289	344	398
(द) अन्य वाणिज्य तथा यातायात	267	362	417	457	512
योग	741	1.056	1,164	1,315	1,449
4. अन्य सेवायें					
(अ) व्यवसाय तथा स्वतंत्र कलाएँ	1,301	1,700	2,069	2,232	2,650
(ब) सरकारी सेवा (प्रशासन)	547	799	915	1,065	1,199
(स) आवास सम्पत्ति	384	511	552	593	625
(द) अन्य सेवायें	904	1,098	1,231	1,376	1,541
योग	3,136	4,108	4,767	5.266	6,015
आय (राष्ट्रीय आय) कुल योग	13,525	17,679	20,572	21,228	24,389

* Source—India 1968, Page 157

स्थान है। इस प्रकार हमारी अर्थ व्यवस्था कृषि पर आधारित है जो स्वयं "मानसून में जुआ" है। परिणाम स्वरूप यदि किसी वर्ष वर्षा की अनियमितता या अपर्याप्तता के कारण फसल खराब हो जाती है तो देश की आर्थिक दशा खराब हो जाती है। अतः देश की कृषि पर जरूरत से ज्यादा आधारित एकांगी अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ आधार देने के लिए उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए।

4. **आय के वितरण की असमानता**—भारत में जहां राष्ट्रीय आय कम है वहां इसका वितरण भी बहुत असमान है। देश की राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग थोड़े से धनी वर्ग के हाथों में जाता है और बहुत थोड़ा भाग देश की अधिकांश जनता को मिल पाता है। प्रो. साइमन कुजनेट्स (Prof. Simon Kuznets) ने भारत में 1955-56 की आय के वितरण के बारे में बताया है कि कुल जनसंख्या के केवल 20% भाग के पास कुल आय का 55% भाग केन्द्रित है जबकि कुल जनसंख्या के 60 भाग को केवल आय का 28% भाग मिलता है। देश के नागरिकों को उचित जीवन स्तर और आर्थिक न्याय प्राप्त हो इसके लिए राष्ट्रीय आय का समान और न्यायोचित वितरण आवश्यक है।

सरांश

राष्ट्रीय आय का अर्थ—किसी देश में एक वर्ष में उत्पन्न की गई वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों के योग में से उनको उत्पन्न करने में प्रयुक्त कच्चे माल, ईंधन आदि का मूल्य, मशीनों का मूल्य ह्रास और अन्य खर्च कम कर दिये जाते हैं। इसमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय को जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार वर्ष भर में कुल जितना शुद्ध उत्पादन होता है उसे ही राष्ट्रीय आय कहते हैं।

राष्ट्रीय आय को ज्ञात करने की मुख्य विधियां हैं—(i) उत्पत्ति गणना प्रणाली (ii) आय गणना प्रणाली (iii) व्यय गणना प्रणाली (iv) व्यवसाय गणना प्रणाली (v) मिश्रित प्रणाली।

राष्ट्रीय आय का महत्व और आर्थिक प्रगति—किसी भी देश के लिए उसकी राष्ट्रीय आय की मात्रा और ... बड़ा महत्व

होता है। राष्ट्र की शक्ति, संपन्नता और स्मृद्धि उस देश की राष्ट्रीय आय पर निर्भर करती है। यह देश की आर्थिक प्रगति और विकास की न केवल सूचक है अपितु उसका आधार हैं। देश की आर्थिक प्रगति को प्रभावित न करने वाली निम्न बातें राष्ट्रीय आय पर ही निर्भर करती हैं—(i) नागरिकों का जीवन स्तर (ii) उत्पादन की मात्रा (iii) प्राकृतिक साधनों का उपयोग और आर्थिक विकास (iv) सरकारी आय (v) रोजगार का स्तर (vi) आर्थिक क्रियाओं का स्तर (vii) सुरक्षा और राजनीतिक शक्ति।

राष्ट्रीय आय और सामाजिक कल्याण—सामान्यतया राष्ट्रीय आय और सामाजिक कल्याण का गहरा सम्बन्ध है। अन्य बातें समान रहने पर राष्ट्रीय आय के बढ़ने पर सामाजिक कल्याण भी बढ़ता है। किन्तु सदा ऐसा नहीं होता, राष्ट्रीय आय का सामाजिक कल्याण पर क्या प्रभाव पड़ता है यह बात जानने के लिए निम्न बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है—(i) आय का वितरण (ii) जनसंख्या की मात्रा (iii) मूल्य स्तर (iv) राष्ट्रीय आय का उपयोग (v) आय उत्पन्न करने में त्यागी गई सन्तुष्टि (vi) अन्य परिणाम।

भारत की राष्ट्रीय आय—भारत में भी समय समय पर राष्ट्रीय आय मुख्य रूप से पंचवर्षीय योजनाओं से भारत की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है किन्तु यह प्रगति बढ़ती हुई जनसंख्या और देश की आवश्यकताओं के अनुपात में नगण्य है। अन्य देशों की तुलना में हमारे देश की राष्ट्रीय आय बहुत कम है और जो कुछ हैं उसका भी समान वितरण नहीं है। अतः राष्ट्रीय आय की वृद्धि और उसके समान वितरण का प्रयास किया जाना चाहिए।

प्रश्न

1. राष्ट्रीय आय से आप क्या समझते हैं ? राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिये।

2. राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय का अर्थ स्पष्ट कीजिये। राष्ट्रीय आय गणना के प्रमुख तरीके कौन कौन से हैं ?
3. देश की राष्ट्रीय आय का आर्थिक प्रगति में महत्व बताइये।
4. राष्ट्रीय आय और सामाजिक कल्याण का सम्बन्ध बतलाते हुए लिखिये कि क्या राष्ट्रीय आय में वृद्धि सदा सामाजिक कल्याण में वृद्धि करती है ?
5. भारत की राष्ट्रीय आय पर अपने विचार प्रकट कीजिये। इसकी वृद्धि की क्यों आवश्यकता है ?

13 राजवित्त

PUBLIC FINANCE

"राजस्व का मुख्य विषय उन विधियों का मूल्यांकन एवं निरीक्षण करना है जिनके द्वारा सार्वजनिक संस्थायें आवश्यकताओं की सामूहिक संतुष्टि करने की व्यवस्था करती हैं तथा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु आवश्यक कोष प्राप्त करती हैं।"

—श्रीमती उर्सुला हिक्स

राजवित्त का अर्थ

प्रो. सी० एफ० बेस्टेबल (Prof. C. F. Bastable) के अनुसार "सभी राज्यों के लिए चाहे वे अविकसित हों या अच्छी तरह विकसित हों, किसी न किसी प्रकार के साधन आवश्यक होते हैं और इसलिए राज्य के साधनों की पूर्ति और उपयोग एक ऐसे अध्ययन का विषय है। जिसे अंग्रेजी में राजवित्त ((Public Finance) कहते हैं।" उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि सरकारों को चाहे वे किसी समय और किसी देश की हों, चाहे उसका रूप कैसा भी हो कुछ कार्य करने पड़ते हैं। आधुनिक युग में तो सरकार के इन कार्यों में बहुमुखी वृद्धि हुई है। इन कार्यों को पूरा करने के लिए सरकार को साधनों की आवश्यकता होती है। इसके लिए सरकार आय प्राप्त करती है। प्राप्त आय का समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए व्यय करती

उपरोक्त सभी परिभाषाओं का आशय यही है कि राजस्व या राजवित्त राजकीय संस्थाओं के आय व्यय का ही अध्ययन है।

राजवित्त का विषय एवं क्षेत्र:—

राजवित्त की उपरोक्त परिभाषाओं से इसकी विषय सामग्री भली भांति स्पष्ट हो जाती हैं। राजवित्त या सार्वजनिक राजस्व की विषय सामग्री के अन्तर्गत राज्य और उससे संबन्धित संस्थाओं द्वारा प्रशासन (Administration) एवं सामाजिक कल्याण (Social Welfare) कार्यों के हेतु धन के एकत्रीकरण एवं व्यय के अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है। राजवित्त के अन्तर्गत न केवल राज्य की उन क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता है। जिनका संबन्ध आवश्यकताओं की सामूहिक संतुष्टि से होता है अपितु इस शास्त्र में राजकीय क्रियाओं का अध्ययन वित्तीय दृष्टिकोण से किया जाता है। सरकार द्वारा संपादित की जाने वाली सामाजिक क्रियाओं की वांछनीयता के सम्बन्ध में खोज करना एवं इन सामाजिक क्रियाओं की सम्पन्नता के हेतु धन के एकत्रीकरण एवं व्यय का अध्ययन राजस्व की विषय सामग्री है। राजवित्त के सम्पूर्ण क्षेत्र में निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है:—

(अ) सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure):—इस भाग के अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते हैं कि राज्य को किन-किन मदों पर कितना कितना व्यय करना चाहिए। यह व्यय किन सिद्धान्तों के अनुसार किया जाय तथा व्यय से सम्बन्धित क्या कठिनाइयां है। प्रो प्लीहन (Prof. Plehn) के मतानुसार सार्वजनिक व्यय का राजस्व में उसी प्रकार महत्त्व है जिस प्रकार अर्थशास्त्र में उपभोग का। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय राजवित्त का केन्द्र आदि और अन्त है। राज्य के कार्यों में निरंतर वृद्धि से राजवित्त में सार्वजनिक व्यय का महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। प्रो. प्लीहन (Prof. Plehn) ने यह भी बतलाया है कि व्यय आय को एकत्रित करने तथा राज्य की अन्य समस्त क्रियाओं का उद्देश्य व साध्य है और

इसकी उपेक्षा की गई तो अन्य सब क्रियाओं के उद्देश्यों को भी समाप्त करना होगा। आधुनिक सरकारों के व्यय की मुख्य मदें हैं देश की सुरक्षा (Defence), आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था, (Peace, and order) कर लगाना और आय प्राप्त करना (Collection of taxes), लोक निर्माण कार्य (Public Works), शिक्षा (Education), स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवायें (Medical and Public health), श्रम और समाज कल्याण (Labour and Social Welfare), जनपयोगी सेवाओं का संचालन (Public Utility Services), मुद्रा, बैंक, साख, विदेशी विनिमय, व्यापार आदि आर्थिक क्रियाओं का संचालन और नियन्त्रण (Direction and Control of Economic activities) सरकारी उद्योग (Public enterprises) और विकास कार्य (Developmental Work)। प्रो. एडम्स ने सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है:—

(i) संरक्षात्मक व्यय—जैसे सेना, पुलिस व न्यायालय आदि पर किया गया व्यय।

(ii) विकासात्मक व्यय—यथा शिक्षा, स्वास्थ्य सामाजिक बीमा, निवास व्यवस्था आदि पर व्यय।

(iii) व्यावसायिक व्यय—यथा रेल, तार, डाक, एवं सार्वजनिक उद्योगों पर किया गया व्यय।

(ख) सार्वजनिक आय (Public Revenue)—राजवित्त के इस भाग में हम यह अध्ययन करते हैं कि सरकार अपनी आय किन किन श्रोतों से प्राप्त करती है। इन श्रोतों का सापेक्षिक महत्त्व क्या है? करारोपण के क्या सिद्धांत हैं तथा विभिन्न प्रकार के करों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ता है। सार्वजनिक आय से ही सरकार को वे साधन प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा वह अपना समस्त कार्य कुशलता और तत्परता से संचालित कर सकती है। अतः राजवित्त के ... भी बड़ा महत्त्व है। क्योंकि कर सरकारी आय ... है। अतः राजवित्त में करारोपण तथा तत्सम्बन्धी

अध्ययन किया जाता है। आधुनिक सरकारों की आय के प्रमुख साधन निम्न हैं—

1. कर (Taxes)—कर राज्य की आय का मुख्य साधन है। प्रो. प्लेहन (Prof. Pilchn) के अनुसार "कर धन के रूप में दिया गया वह सामान्य अनिवार्य अंशदान है जो राज्य के निवासियों को सामान्य लाभ पहुँचाने के लिये किये गये व्यय को पूरा करने हेतु देश वासियों से लिया जाता है।" कर राज्य का अनिवार्य रूप से दिया जाने वाला भुगतान है जिसका उपयोग सामान्य लाभ के लिये किया जाता है। कर मुख्य रूप से आय प्राप्त करने के लिये लगाये जाते हैं किन्तु इनके उद्देश्य अर्थव्यवस्था का नियमन और धन के समान वितरण करना भी होता है। कर दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष, आयकर, निगम कर, व्यय कर, उत्पादन कर, आयात निर्यात कर, बिक्री कर, मृत्युकर, उपहार कर, पूंजी लाभ कर, मालगुजारी, आदि मुख्य कर साधन हैं—

2. शुल्क या फीस (Fees)—व्यक्ति द्वारा सरकार को दिया गया वह भुगतान है जो सरकार से प्राप्त किसी विशेष लाभ के बदले में दिया जाता है।

3. विशेष निर्धारण (Special Assessment) —जब सरकार की क्रियाओं से किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का मूल्य बढ़ जाए तो सरकार कभी कभी इन अनुपार्जित आय (Unearned income) पर कर लगा देती है। इसे विशेष निर्धारण कहते हैं।

4. जुर्माने या दण्ड (Fines)—जुर्माने और दण्ड से भी सरकार को आय प्राप्त होती है।

5. कीमत या व्यवसायिक आय (Price)—आधुनिक युग में सरकारें स्वयं पानी, बिजली, डाक, तार, रेलें, आदि लोकोपयोगी सेवाओं और अन्य उद्योगों को चलाती हैं। इनसे मिलने वाला लाभ भी राज्य की आय का साधन है।

6. सरकारी सम्पत्ति से आय—राष्ट्रीय सम्पत्ति जैसे भूमि, वन,

(इ) संघीय वित्त (Federal Finance)—कुछ देशों में सं
नमूने के सरकारी संगठन है जैसे भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका
आदि जिनमें संघ सरकारों के साथ इनके आधीन इकाई सरकारें
होती हैं। राजस्व के इस विभाग में संघ सरकार और राज्य सरकारों के
पारस्परिक वित्तीय संबन्धों, वित्तीय साधनों के विभाजन आदि
समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

इस प्रकार सरकारी आय, व्यय, ऋण आदि और उनकी प्रकृति,
देश की राजवित्त प्रणाली को निर्धारित करती है।

राजवित्त का महत्त्व (Importance of Public Finance):—

किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था में राजवित्त या सार्वजनिक राजस्व का बहुत महत्त्व होता है। इसके दो कारण हैं—प्रथम सरकार के कार्यों में वृद्धि और द्वितीय आर्थिक जीवन पर राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) के प्रभाव। इन दोनों ही दृष्टियों से राजवित्त का महत्त्व निम्न विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

निर्माण कर सकती है तथा अनावश्यक उद्योगों को समाप्त कर सकती है।

2. धन के वितरण पर:—राजवित्त की कार्यवाहियां भी धन के वितरण को बड़ी सीमा तक प्रभावित करती है। सार्वजनिक वित्त की समस्त क्रियाएं धन या मुद्रा या क्रयशक्ति का एक वर्ग से दूसरे वर्ग को हस्तांतरित करती हैं। करों के द्वारा क्रयशक्ति करदाताओं से सरकार के हाथों में पहुँचती है और जब सरकार इसे व्यय करती है तो पुनः व्यक्तियों के हाथों में क्रयशक्ति चली जाती है। करारोपण और व्यय की ऐसी प्रणाली अपनाई जा सकती है जिससे क्रयशक्ति का धनिक वर्ग से निर्धन वर्ग को हस्तांतरण हो अर्थात कर धनिक वर्ग पर लगे और सरकारी व्यय का अधिकांश लाभ निर्धन वर्ग को मिले। यदि इस प्रकार की पद्धति नहीं अपनाई गई तो धन और आय की असमानता बढ़ेगी जो अनुचित और शान्ति के लिये खतरा है। इस प्रकार राजवित्त धन के वितरण को शान्तिपूर्ण, वैधानिक एवं प्रभावपूर्ण तरीके से समान करने में सहायता करता है जो कि आधुनिक सरकारों का उद्देश्य होता है।

3. आर्थिक स्थायित्व और पूर्णरोजगार—सरकार के वित्तीय कार्यों का प्रभाव, अर्थात मौद्रिक आय की प्राप्ति और उनके व्यय का प्रभाव केवल उत्पादन के स्वरूप और राष्ट्रीय आय के विभिन्न वर्गों में होने वाले वितरण पर ही नहीं पड़ता किन्तु उससे एक बड़े अंश तक उत्पादन व रोजगार के स्तर भी प्रभावित होते हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वाले देशों की एक विशेषता उनके यहां व्यापार की तेजी और मन्दी के क्रम अर्थात व्यापार चक्रों (Trade cycles) का चलना है जिसके परिणाम स्वरूप कभी समृद्धि और कभी बेकारी को साथ लिये हुए आर्थिक मन्दी आ जाती है। यह आर्थिक जीवन में अनिश्चितता (Uncertainty) और [illegible]ring) उत्पन्न होती है। उचित करारोपण और सार्वजनि[illegible]

के पास क्रयशक्ति का हस्तांतरण करके वस्तुओं की मांग कम करके तेजी (Boom) के समय मूल्यों को कम करने में सहायता देते हैं। सरकारी व्यय जनता के हाथों में अधिक क्रय शक्ति देकर मन्दी (Depression) के समय मांग को बढ़ाने, रोजगार बढ़ाने, और मन्दी की तीव्रता कम करने में सहायक सिद्ध होती है। इस प्रकार राजवित्त की क्रियाएं आर्थिक स्थायित्व को स्थापित करने और पूर्ण रोजगार की स्थापना करने में सहायक होती है। लार्ड जे. एम. कीन्स (Lord J. M. Keynes) ने बेकारी को रोकने के लिये सरकारी विनियोग नीति का समर्थन किया है।

4. लोक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना—आधुनिक विश्व में सरकारें लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना चाहती हैं। इसके लिये श्रम कल्याण, सामाजिक कल्याण, पिछड़े वर्गों के कल्याण एवं शिक्षा एवं स्वास्थ्य की प्रगति, सामाजिक बीमा आदि योजनाओं को संचालित किया जाता है। लोक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य देश के कुछ थोड़े से लोगों को लाभ पहुँचाना ही नहीं अपितु अधिकतम जनता का अधिकतम भला करना होता है। राजवित्त के द्वारा सरकार इस प्रकार की क्रियाएं कर सकती है जिससे अधिकांश जनता का अधिकतम लाभ हो और समाज के पिछड़े वर्गों का ज्यादा से ज्यादा कल्याण हो।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि करारोपण द्वारा धन के असमान वितरण को सुधारा जा सकता है और सामाजिक बुराइयों को दूर किया जा सकता है, मदिरा आदि हानिकारक पदार्थों के उपभोग को नियंत्रित किया जा सकता है। सार्वजनिक व्यय द्वारा नये नये उद्योगों और व्यवसायों का निर्माण हो सकता है और रोजगार और मजदूरी के स्तर में वृद्धि हो सकती है। राज्य अपनी वित्तीय नीति ... विभिन्न साधनों के विभिन्न व्यवसायों में वितरण को ... सकता है और देश का संतुलित विकास कर सकता है। ... को संरक्षण द्वारा विदेशी प्रतियोगिता से बचा ...

साधनों को ऐसे उद्योग में लगा सकता है जो देश के लिए लाभप्रद हो। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार हैं कि राजवित्त नीति का मुख्य उद्देश्य आर्थिक जीवन के ढाँचे में इच्छा और आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना है। राजवित्त द्वारा अर्थव्यवस्था में क्रियात्मक परिवर्तन (Functional Changes) किये जा सकते हैं। इसलिए राजवित्त का बहुत महत्व है। **श्री जेम्स विलियम** (James Willam) के शब्दों में "वित्त केवल अच्छी अङ्कगणित ही नहीं है वित्त एक नीति है। विना अच्छे वित्त के अच्छी सरकार भी सम्भव नहीं है।

राजवित्त और सरकारी आर्थिक नीति में परस्पर अनुरूपता—

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आर्थिक जीवन में राजवित्त का अत्यन्त महत्व हैं और राजवित्त विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करता है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि राजवित्त अपनी आर्थिक नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए सरकारों के हाथ में एक शक्तिशाली औजार (tool) है। अतः राजवित्त और सरकार की आर्थिक नीतियाँ परस्पर अनुरूप होनी चाहिए और उनमें समन्वय होना चाहिए तभी सरकार की आर्थिक नीतियाँ फलीभूत होंगी। उदाहरण के लिए यदि सरकार धन के वितरण को समान करना चाहती है तो उसे प्रगतिशील कर (Progressive Taxes) लगाने चाहिए जिनकी दर आय और धन के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती जाये। यदि सरकार अर्थ-व्यवस्था में तेजी लाना चाहती है और रोजगार का स्तर बढ़ाना चाहती है तो सरकारी व्यय में वृद्धि करनी चाहिए। यदि सरकार किसी विशेष उद्योग को प्रोत्साहन देना चाहती है तो उसे उस उद्योग पर कर कम करके आर्थिक सहायता देना चाहिए। यदि सरकार का उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में वृद्धि करना होता है तो स्वयं उसे अधिकाधिक उद्योगों की स्थापना करनी चाहिए। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के लिए ही सरकार स्वयं कई उद्योग स्थापित कर रही है।

अच्छी राजवित्त प्रणाली की विशेषताएँ (Important features of a good system of Public Finance) —

किसी देश की राजवित्त प्रणाली अच्छी है या नहीं यह इस बात पर निर्भर करती है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक सफल हुई है। जो राजस्व प्रणाली अपने उद्देश्य की पूर्ति में जितनी ज्यादा सफल होती है वह उतनी ही अच्छी मानी जाती है। सरकार का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Benefit) प्राप्त करना होता है और यह उसकी समस्त क्रियाओं जैसे आय प्राप्त करना, व्यय करना, ऋण लेना आदि में विद्यमान रहता है। कर लगाने से नागरिकों के पास द्रव्य की मात्रा घटती जाती है और उन्हें समाज और उपयोगिता का त्याग करना पड़ता है। कर की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ सीमान्त सामाजिक त्याग की मात्रा बढ़ती जाता है। इसके विपरीत सरकारी व्यय से नागरिकों की वास्तविक आय में वृद्धि होती है तथा उन्हें संतोष मिलता है। सार्वजनिक व्यय की प्रत्येक इकाई के साथ-साथ नागरिकों को प्राप्त होने वाली सीमान्त संतुष्टि की मात्रा घटती जाती है। अन्त में ऐसा समय आ जाता है जबकि करारोपण की अन्तिम इकाई द्वारा उत्पन्न असन्तोष और सार्वजनिक व्यय की अन्तिम इकाई द्वारा प्राप्त तुष्टिगुण बराबर हो जाता है। यह बिन्दु ही अधिकतम सामाजिक संतोष का बिन्दु है। दूसरे शब्दों में सरकार को व्यय और आय प्राप्ति इस बिन्दु तक करनी चाहिए। ऐसा करने से ही समाज को होने वाला कुल संतोष अधिकतम होगा। अतः राजवित्त की वह प्रणाली सबसे अधिक अच्छी होती है जिसके द्वारा समाज को अधिकतम सामाजिक संतोष प्राप्त हो। किन्तु अधिकतम सामाजिक संतोष का अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि करारोपण से उत्पन्न सीमान्त त्याग और सार्वजनिक व्यय से उत्पन्न सीमान्त तुष्टिगुण का मापना असंभव कार्य है। करने वाले असंख्य व्यक्तियों के सरकार की परिणाम स्वरूप होने वाले त्याग और उपयोगि

सीमित करने की चेष्टा की जाती है। इसी प्रकार देश के पिछड़े और अविकसित भागों एवं अर्थ व्यवस्था के उद्योग आदि पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए विशेष योजनायें बनाई गई हैं। किन्तु इसके लिए और अधिक प्रयत्नों की अपेक्षा है।

कर की रीतियां अथवा कर के सिद्धांत
(Canon of Taxation)

कर की रीतियों को दो भागों में बांट सकते हैं—(अ) 5डम स्मिथ (Adam Smith) द्वारा दी गई चार रीतियां, (ब) अन्य रीतियां।

(अ) एडम स्मिथ की रीतियां:—एडम स्मिथ ने एक अच्छे कर सिद्धान्त के चार आवश्यक गुण अथवा रीतियां दी हैं—

कर की रीतियां या सिद्धांत
(Danons of Taxation)

(अ) एडम स्मिथ द्वारा दी गई रीतियां—

1. समता की रीति (Canon of Equality)
2. निश्चितता की रीति (Canon of Certainty)
3. सुविधा की रीति (Canon of Convenience)
4. मितव्ययता की रीति (Canon of Economy)

(ब) अन्य रीतियां—

1. लोच की रीति (Canon of Elasticity)
2. उत्पादकना की रीति (Canon of Productivity)
3. अनेक रूपता की रीति (Canon of Variety)
4. सरलता की रीति (Canon of simplicity)
5. कर भार आमदनी पर (Tax burden on Revenue)

1. समता की रीति (Canon of Equality) ऐडम स्मिथ के अनुसार "प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी क्षमतानुसार सरकार के सहयोग

के लिए योगदान देना चाहिए अर्थात् उस आमदनी के समानुपात से म राज्य द्वारा दी गई सुरक्षा के अन्तर्गत उसे प्राप्त होती है।'' समता का अर्थ है 'त्याग की समता', न कि धन के रूप में दिये गये योगदान की समता। एडम स्मिथ ने कहा है कि कर का देना करदाता की क्षमता के अनुसार होना चाहिये या त्याग जो कि कर प्रदान करने में करना पड़ता है, प्रत्येक मनुष्य के लिये बराबर होना चाहिये। अमीर मनुष्य को गरीब मनुष्यों से अधिक कर देने की क्षमता होनी है अतः उससे अधिक लेना चाहिये। अच्छा कर सिद्धान्त प्रगतिशील होना चाहिए ताकि समता को प्राप्त कर सकें।

2. निश्चितता की रीति (Canon of Certainty)—कर जो व्यक्ति को अदा करना पड़ता है निश्चित होना चाहिए, ऐच्छिक नहीं। अदायगी का समय, अदायगी का ढंग, अदायगी की मात्रा अदा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्पष्ट होना चाहिए। "करों की रीतियों में केवल समता ही न होनी चाहिए बल्कि कर अदा करने वाले तथा राज्य को कर की रीति स्पष्ट और निश्चित रूप से मालूम होनी चाहिये।" कर अदा करने वाले को अदायगी की मात्रा, समय, कारण और ढंग स्पष्ट मालूम हो। राज्य को भी यह मालूम हो। चाहिये कि कितना राजस्व (Revenue) कर के द्वारा कब प्राप्त होने को है। अतः राज्य व करदाता दोनों के दृष्टिकोण से यह निश्चित होना चाहिये।

3. सुविधा की रीति (Canon of Convenience)—"प्रत्येक कर को ऐसे और इस ढंग से लगाना चाहिये" एडम स्मिथ कहते हैं, "जिससे कि करदाता को अधिक से अधिक सुविधा का अनुभव हो" कर करदाता तथा राज्य दोनों के लिये सुविधापूर्वक होना चाहिये जिससे न करदाता को कर देने और न सरकार को कर वसूल करने में कठिनाई हो। क्योंकि ठीक समय और ठीक ढंग से अदायगी होनी चाहिये और कर कम से कम परेशानी पहुँचा कर वसूल चाहिये।

4. मितव्ययता की रीति (*Canon of Economy*)—अंत में एडम स्मिथ कहते हैं, "प्रत्येक कर को इस प्रकार लगाना चाहिये कि लोगों का जेबों से जितना सम्भव हो उतना कम लिया जाये। परन्तु जितना लिया जाय उसका अधिकांश भाग राज्य के सार्वजनिक कोष में पहुँचे।" राज्य कर की वसूली अपने अधिकारियों द्वारा करता है। परन्तु वसूली में खर्च कम से कम होना चाहिये। अगर एक कर का अधिकांश अंश इसके इकट्ठा करने में खर्च हो जाता है तो वह कर ठीक नहीं, क्योंकि लोगों को जेबों से तो कर के रूप में ज्यादा लिया जायेगा लेकिन राज्य के सार्वजनिक कोष में बहुत कम आयेगा इस तरह कर लोगों को परेशानी भी पहुंचायेगा और राज्य के सार्वजनिक कोष में भी कम आमदनी लायेगा।

(ब) अन्य रीतियाँ—बाद के लेखकों ने एडम स्मिथ की रीतियों में निम्नलिखित रीतियां और जोड़ दी हैं।

(5) लोज की रीति (*Canon of Elasticity*)—जैसे जैसे राज्य के मनुष्यों की आबादी बढ़े या आमदनी बढ़े उसी प्रकार राज्य की कर से भी आमदनी बढ़ानी चाहिये। कर इस प्रकार के भी होने चाहिये कि आकस्मिक घटना या जरूरत के समय बिना वसूल की लागत बढ़ाये कर की दर को बढ़ाने से ज्यादा आमदनी ला सकें।

(6) उत्पादकता की रीति (*Canon of Productivity*)—बेस्टेबल (*Bestable*) के अनुसार कर राजस्व बढ़ाने लायक होना चाहिये। कर समाहरण का जरूरी तात्पर्य राज्य के राजस्व बढ़ाने का है। अतः कर से एक अच्छी आमदनी होनी चाहिये। एक बड़ा कर उत्पादक है क्योंकि थोड़ी थोड़ी आमदनी वाले नाना प्रकार के करों से जिसमें, समय और खर्चा बहुत लगता हो, ज्यादा अच्छा है।

(7) अनेकरूपता की रीति (Canon of Variety)—हर प्रकार का कर किसी न किसी जन समूह पर बहुत अधिक, और कभी न्यायहीन भी पड़ता है। इसलिये कर बहुत सी किस्मों के होने चाहिये

राजवित्त का महत्व—आधुनिक अर्थव्यवस्था में राजवित्त का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दो कारणों से है।

प्रथम सरकार के बढ़ते हुए कार्य जिनमें गत वर्षों में गहरी और विस्तृत दोनों प्रकार की वृद्धि हुई है।

द्वितीय राजवित्त का आर्थिक जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव। निम्न बातें बहुत सीमा तक राजवित्त की क्रियाओं पर निर्भर करती हैं—(1) उत्पादन और उपभोग (2) धन का वितरण (3) आर्थिक स्थायित्व और पूर्ण रोजगार (4) लोक कल्याणकारी राज्य।

इस प्रकार राजवित्त विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करता है। अतः राजवित्त और सरकार की आर्थिक नीतियाँ परस्पर अनुरूप होनी चाहिए और उनमें समन्वय होना चाहिए।

अच्छी राजवित्त प्रणाली की विशेषतायें—वह राजवित्त प्रणाली सर्वोत्कृष्ट होती है जो अपने उद्देश्यों में अधिकाधिक सफल हो। सरकार का मुख्य उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना होता है। अतः श्रेष्ठ राजवित्त प्रणाली वह होती है जो समाज को अधिकाधिक लाभ या संतोष प्रदान कर सके। किन्तु अधिकाधिक सामाजिक लाभ और संतोष विषयगत वस्तु है और उनको नापना असम्भव है। अतः कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसके लिए निम्न वस्तुगत आधार निर्धारित किये हैं। जो राजवित्त प्रणाली निम्न कार्यों को अधिकाधिक कर सके वह अधिक श्रेष्ठ है:—(1) बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा एवं आन्तरिक शांति (2) आर्थिक विकास (3) धन का समान वितरण (4) आर्थिक स्थायित्व (5) भुगतान संतुलन को सुधारना। (6) भावी सद्प्रभाव (7) सामाजिक उद्देश्य।

भारतीय राजवित्त प्रणाली में इन सब आधारों को पूरा करने की चेष्टा की गई है किन्तु फिर भी इस ओर अधिक सुविचारित परिवर्तनों की आवश्यकता है।

प्रश्न

१. 'राजवित्त' का अर्थ समझाइये। इसमें किन किन विषयों का अध्ययन किया जाता है।

2. राजवित्त का अर्थव्यवस्था में महत्त्व निर्धारित करते हुये यह बतलाइये कि इसका आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

3. अच्छी राजवित्त प्रणाली में क्या गुण होने चाहिये? इस दृष्टि से भारतीय राजवित्त व्यवस्था पर विचार कीजिए।

14 आर्थिक प्रणालियाँ

ECONOMIC SYSTEMS

"आर्थिक प्रणाली, उपभोक्ताओं द्वारा चाही गई वस्तुओं के निर्माण के लिए उत्पादकों को या कार्यकर्ताओं के सहयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"
—प्रो. जे. आर. हिक्स

आर्थिक प्रणाली का अर्थ (Meaning of Economic System)

किसी देश की आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत वे सभी प्रकार की संस्थायें आती हैं जिनके माध्यम से उस देश का आर्थिक यंत्र संचालित होता है। आर्थिक प्रणाली का आशय उस वैधानिक तथा संस्थागत ढांचे से है जिसके अन्तर्गत आर्थिक क्रियायें संचालित होती हैं। आर्थिक क्रियाओं के अन्तर्गत सेवाओं और वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय, वितरण उपभोग और राजवित्त से सम्बन्धित क्रियायें सम्मिलित की जाती हैं। मनुष्य को जीवित रहने, कार्य कुशलता बनाये रखने और सुखी एवं सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए कई प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की आवश्यकता होती है। इन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करना पड़ता है जिनके उपभोग में मनुष्य की आवश्यकतायें संतुष्ट होती है। आजकल मनुष्य की आवश्यकतायें इतनी अधिक और विभिन्न प्रकार की होती है कि मनुष्य केवल अपने द्वारा ही उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं से उनकी पूर्ति नहीं कर सकता है। इसके अलावा एक मनुष्य

सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन भी नहीं कर सकता। अतः श्रम विभाजन हुआ और व्यक्ति उन वस्तुओं का ही उत्पादन करने लगे जिनकी उत्पत्ति करने के वे अधिक योग्य और इच्छुक हों। वे इन वस्तुओं को देकर अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुयें प्राप्त करने लगे। अतः पारस्परिक विनिमय द्वारा या अप्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होने लगी। जिसके लिए कई व्यक्तियों का सहयोग आवश्यक हो गया। आर्थिक प्रणाली से हमारा आशय उत्पादकों और उपभोक्ताओं के इसी सहयोग या पारस्परिक विनिमय की प्रणाली (System of Mutual Exchange) से है। अन्य शब्दों में आर्थिक प्रणाली उपभोक्ताओं की आवश्यकता संतुष्टि के उद्देश्य से वस्तुओं के निर्माण के लिए उत्पादकों के सहयोग या संगठन को कहते हैं।

उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से भी की जा सकती है। प्रारम्भिक काल में अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्तिगत रूप से की जाती थी। लोगों का "स्वतन्त्र छोड़ दो" की नीति में विश्वास था। किन्तु आधुनिक युग में कई आवश्यकताएं सामूहिक रूप से राज्य के द्वारा सन्तुष्ट की जाती हैं। इस प्रकार उत्पादन और उपभोग विनिमय और वितरण में राज्य का भाग (Participation) नियंत्रण और हस्तक्षेप बढ़ता जाता है। अतः आर्थिक प्रणाली का अर्थ व्यक्तिगत और सामूहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उत्पादकों के सहयोग से है चाहे वे उत्पादक व्यक्ति के रूप में हों या सरकार के रूप में हो। आर्थिक प्रणाली में हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन की कौन सी प्रणाली है, उत्पादन कौन करते हैं, उत्पादन के साधन किसके स्वामित्व में है, धन का वितरण किस प्रकार का है और कौनसी आर्थिक संस्थाएं (Economic Institutions) प्रचलित

आर्थिक प्रणाली के

(Kinds of

अर्थ व्यवस्था में राजकीय

राजकीय स्वामित्व के अंश दृष्टिकोण से आर्थिक प्रणालियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—

1. पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था—(Capitalist Economy)—

पूंजीवाद अत्यन्त प्राचीन आर्थिक प्रणाली है। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप अठारहवीं शताब्दी के मध्य में इसका जन्म हुआ और उसके पश्चात् विश्व के अन्य देशों में पहुँच गया। इंगलैंड, अमेरिका, फ्रांस आदि विश्व के प्रमुख और विकसित देशों में पूंजीवाद है। पूंजीवाद उस आर्थिक प्रणाली को कहते हैं जिसमें व्यक्ति को उत्पादन के साधनों पर अधिकार करने तथा उन्हें व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयोग करने की सुविधा और स्वतन्त्रता होती है। इस प्रणाली में तमाम उत्पादन के साधन और उत्पादक इकाइयाँ, चाहे वे कारखाने हों या खेत, व्यापारिक संस्थान हो या चित्रपट व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति होती है। इसमें सामाजिक दृष्टि से लगाये गये कुछ प्रतिबन्धों के अतिरिक्त नागरिकों को सब प्रकार की आर्थिक स्वतन्त्रता होती है। श्री जान स्ट्रेची (John Strachey) के अनुसार "पूंजीवाद शब्द से हमारा अभिप्राय वह आर्थिक प्रणाली है जिसमें खेतों, कारखानों और खानों पर व्यक्तियों का स्वामित्व रहता है। इन उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्ति कार्य करते हैं जो इनके स्वामी नहीं होते और उन व्यक्तियों के लाभ के लिए काम किया जाता है जो उनके स्वामी होते हैं। पूंजीवाद में विश्व स्नेह के स्थान पर लाभ के उद्देश्य पर घूमता है।"

पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था को अनियोजित अर्थ व्यवस्था (Unplanned Economy) भी कह सकते हैं। इस प्रणाली में अर्थव्यवस्था में राजकीय हस्तक्षेप की मात्रा और सीमा न्यूनतम होती है। राज्य का कार्यक्षेत्र देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना, आन्तरिक शांति व व्यवस्था बनाये रखना होता है। उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय आदि सभी आर्थिक क्रियाओं में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होती है। अनियोजित अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण समाज को दृष्टि में रखकर उत्पादन

की योजना सरकार या केन्द्रीय योजना अधिकारी द्वारा नही बनाई जाती है। मूल्य यन्त्र द्वारा ही विभिन्न उपयोगो में उत्पत्ति के साधनों का उचित और लाभदायक उपयोगों में वितरण होता है।

2. समाजवादी अर्थव्यवस्था (Socialist Economy)—समाजवादी अर्थ व्यवस्था एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमे उत्पादन के साधन समाज के स्वामित्व में होते हैं और उनका उपयोग सार्वजनिक हित मे होता है। ऐसी अर्थ व्यवस्था मे निजी सम्पत्ति का अस्तित्व नही होता और उत्पादन कार्य का उद्देश्य निजी लाभ (Private Profit) की अपेक्षा सामाजिक कल्याण (Social welfare) होता है। यहा धन आय और अवसर की विषमता समाप्त की जाती है और समाज का विभिन्न वर्गों मे विभाजन नहीं होता है। प्रत्येक आर्थिक क्रिया में सरकारी हस्तक्षेप होता है। प्रो. डिकिनसन (Prof Dikinson) के शब्दो मे "समाजवाद समाज का एक ऐसा आर्थिक सगठन है जिसमें उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर समस्त समाज का स्वामित्व होता है तथा उनका संचालन एक सामान्य योजना के अनुसार ऐसी संस्थाओं द्वारा किया जाता है जो समस्त समाज का प्रतिनिधित्व करती है तथा समस्त समाज के प्रति उत्तरदायी होती हैं। समाज के सभी सदस्य ऐसे सामाजिकृत और योजनाबद्ध उत्पादन मे समान अधिकारो के आधार पर अधिकारी होते हैं।"

समाजवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पादन कार्य सरकार द्वारा एक निश्चित योजना (Plan) के अनुसार देश की आवश्यकताओ और सामाजिक कल्याण को ध्यान मे रखकर किया जाता है अतः इस व्यवस्था को नियोजित अर्थ व्यवस्था (Planned Economy) भी कहते हैं। समाजवाद नियोजित अर्थ व्यवस्था का आदर्शतम रूप है। नियोजित अर्थ व्यवस्था अनियोजित अर्थ व्यवस्था के विपरीत होती है। इस प्रकार की प्रणाली में राष्ट्र की भौतिक, मानसिक तथा प्राकृतिक शक्तियों और साधनों का जन समूह के अधिकतम लाभार्थ केन्द्रीय अधिकारी या सरकार द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार विवेक पूर्ण ढंग से उपयोग किया जाता है। नियोजित अर्थ व्यवस्था मे भी उत्पादन पर सरकार का स्वामित्व और नियन्त्रण रहता है। श्री लेविस लार्विन [redacted] अनुसार "नियोजित अर्थ व्यवस्था आर्थिक संगठन की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें दिये गये निश्चित समय में जनता की आवश्यकताओं की अधिकतम सन्तुष्टि के लिए उपलब्ध साधनों प्रयोग करने में व्यक्तिगत एवं अलग-अलग यन्त्रादि तथा एक ही व्यवस्था की परस्पर सम्बन्धित इकाइयाँ समस्त

अच्छी होगी जिसमें द्वारा देश में उत्पादन अधिकाधिक हो, देश का द्रुतगति से आर्थिक विकास हो और नागरिकों की अधिकाधिक आवश्यकताओं की संतुष्टि हो। अच्छी आर्थिक प्रणाली वह है जिससे देश की राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय में निरन्तर वृद्धि हो और जो देशवासियों को उच्च जीवन स्तर प्रदान कर सके। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि अच्छी आर्थिक प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी उत्पादकता (Productvity) है। जिस देश में जिस प्रणाली को अपनाने से उत्पादन और राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो अर्थात् आर्थिक प्रगति हो वही प्रणाली उस देश के लिए अच्छी है।

2. समानता (Equity)—अच्छी आर्थिक प्रणाली की दूसरी विशेषता इसकी समानता है। उत्पादन और राष्ट्रीय आय का अधिक होना ही सब कुछ नहीं है। उत्पादन में अत्यधिक में वृद्धि के साथ-साथ इसका समान और न्यायोचित वितरण भी आवश्यक है। इसके प्रभाव में बढ़ी हुई आय केवल धनी वर्ग के हाथों में ही केन्द्रित हो जायेगी। परिणामस्वरूप "समृद्धि में निर्धनता" (Poverty Amidst Plenty) का विरोधाभास उत्पन्न हो जायगा। परिणामस्वरूप जहाँ समाज के एक अत्यन्त छोटे वर्ग को विलासिता का जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलेगा वहाँ दूसरी ओर एक विशाल निर्धन वर्ग की आधारभूत आवश्यकतायें भी अपूर्ण रह जायेंगी और इस प्रकार अधिकाधिक व्यक्तियों की अधिकाधिक आवश्यकताओं की संतुष्टि का उद्देश्य पूरा नहीं हो पावेगा। अतः अच्छी आर्थिक प्रणाली वह होती है जिसमें व्यक्तियों को धन आय और अवसर की विषमता नहीं होती है, जहां शोषण नहीं किया जाता है और जहाँ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समानता की स्थापना होती है तथा वर्ग भेद को समाप्त कर दिया जाता है।

आर्थिक प्रणाली के चयन की समस्या—विभिन्न देश किस आर्थिक प्रणाली को अपनायें यह निर्पेक्ष रूप से नहीं कहा जा सकता है विभिन्न आर्थिक प्रणालियों के अपने अपने गुण आर दोष हैं। कोईभी आर्थिक प्रणाली

पूर्ण और दोष रहित नहीं है। पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में लोगों की आर्थिक स्वतन्त्रता बहुत महत्वपूर्ण बात है और विश्व के बड़े बड़े देशों ने इस पद्धति के द्वारा ही उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि और आर्थिक विकास किया है। विश्व के सर्वाधिक उच्च जीवन स्तर और राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय वाले अमेरिका, इंग्लैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देश आज भी पूंजीवादी पद्धति के द्वारा ही आर्थिक विकास के इस शिखर पर पहुँचे हैं किन्तु पूंजीवाद में समानता को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता और इसमें एक ओर सम्पन्नता तो दूसरी ओर विपन्नता दृष्टिगत होती है। दूसरी ओर समाजवाद का सबसे बड़ा गुण समानता है यहां कार्य कुशलता से भी अधिक ध्यान समानता पर दिया जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था कुशलता या उत्पादकता के दृष्टिकोण से उचित नहीं है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में समानता के साथ साथ उत्पादकता पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। सोवियत रूस और चीन इस बात के उदाहरण हैं जिन्होंने समाजवादी आर्थिक प्रणाली को अपना कर आश्चर्यजनक और अभूतपूर्व आर्थिक प्रगति की है। किन्तु इस प्रणाली में स्वतन्त्रता को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाता है। सामूहिक हित के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान कर दिया जाता है। पेट की क्षुधा से मुक्ति तो मिल जाती है किन्तु वह हृदय और मस्तिष्क की दासता के मूल्य पर ही मिलती है।

इस दृष्टिकोण से मिश्रित अर्थ व्यवस्था सर्वाधिक उपयुक्त है जिसमें पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के दोषों से बचते हुए दोनों के गुणों का सुन्दर समन्वय किया जाता है। विश्व के अधिकांश अविकसित (Undeveloped) और विकासशील (developing) देश इसी आर्थिक प्रणाली को अपना रहे हैं यद्यपि समाजवाद की प्रवृत्ति भी जोर पकड़ती जा रही है। किन्तु फिर भी किसी देश को किसी आर्थिक पद्धति को अपनाते हुए केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण और कोरे आदर्शवाद से प्रभावित नहीं होना चाहिए और व्यवहारिक और यथार्थवादी ... अपनाना चाहिए। ये आर्थिक प्रणालियां तो साधन

और समाज के भौतिक साधनों का राज्य द्वारा स्वामित्व या प्रभावपूर्ण नियन्त्रण।

4. ऐसी आर्थिक प्रणाली की स्थापना जिससे उत्पादन के साधनों और घन का केन्द्रीयकरण कुछ व्यक्तियों के पास ही नहीं हो जाय।

5. देश की संपत्ति और उत्पादन में वृद्धि के लिए व्यवस्थित प्रयत्नों का किया जाना।

6. राष्ट्रीय सम्पत्ति का समान वितरण और वर्तमान विषमता में कमी करना।

7. सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में उपरोक्त परिवर्तन केवल शांतिपूर्ण जनतांत्रिक तरीकों से किया जाना।

8. ग्राम पंचायतों और कुटीर उद्योगों की स्थापना द्वारा राजनीतिक और आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण।

नियोजित अर्थ व्यवस्था (Planned Economs):—

समाजवादी समाज की स्थापना और देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए भारत ने नियोजित अर्थ व्यवस्था को अपनाया है। किन्तु भारत में नियोजन सोवियत रूस या चीन की तरह का नियोजन नहीं है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था और उदारवादी दृष्टिकोण रखने तथा जनतांत्रिक जीवन पद्धति में विश्वास रखने के कारण हमने जनतांत्रिक नियोजन (Democratic Planning) को अपनाया है जिसमें योजनाओं के निर्माण का और अन्तिम स्वीकृति कार्य जनता के द्वारा या जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। भारत ने तीन पंचवर्षीय योजनाओं को पूर्ण कर लिया है और चौथी पंचवर्षीय योजना के निर्माण पर विचार चल रहा हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य आर्थिक प्रगति करना और आर्थिक विषमता को कम करना है।

सारांश

आर्थिक प्रणाली का अर्थ— आर्थिक प्रणाली का आशय उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के उद्देश्य से वस्तुओं के निर्माण के लिए उत्पादकों के सहयोग या संगठन से है।

आर्थिक प्रणाली के प्रकार—(1) पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली, (2) समाजवादी आर्थिक प्रणाली (3) मिश्रित अर्थ व्यवस्था (4) सर्वोदय अर्थ व्यवस्था। कुछ विचारकों ने आर्थिक प्रणाली को इस प्रकार वर्गीकृत किया है—नियोजित अर्थ व्यवस्था, अनियोजित अर्थ व्यवस्था और मिश्रित अर्थ व्यवस्था।

अच्छी आर्थिक प्रणाली के गुण—(1) कुशलता अर्थात आर्थिक प्रगति और (2) समानता।

आर्थिक प्रणाली का चयन—इसके लिए कोरे आदर्शवाद और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार नहीं करके व्यवहारिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण रखना चाहिए। देश की राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक दशायें और आदर्शों को ध्यान में रखते हुए उस प्रणाली को अपनाना चाहिये जो अधिकाधिक आर्थिक प्रगति और आर्थिक समानता में सहायक हो।

भारत की आर्थिक प्रणाली—भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य से मिश्रित अर्थ व्यवस्था को अपनाया है जिसके लिये *प्रजातान्त्रिक नियोजन का सहारा लिया गया है।*

प्रश्न

1. आर्थिक प्रणाली से क्या अर्थ है? अच्छी आर्थिक प्रणाली के क्या गुण हैं?
2. मुख्य आर्थिक प्रणालियों का वर्णन कीजिये और परस्पर तुलना कीजिये।
3. आर्थिक प्रणाली के चयन को प्रभावित करने वाली कौन सी बातें हैं?
4. आपकी राय में कौनसी आर्थिक प्रणाली अधिक उपयुक्त है और क्यों?
5. भारत की आर्थिक प्रणाली का परिचय दीजिये?
6. "कौनसी आर्थिक प्रणाली किसी देश के लिए उपयुक्त है यह देश की विशेष दशाओं पर निर्भर करता है।" इस कथन की सत्यता सिद्ध कीजिये।

15

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था

CAPITALISTIC ECONOMY

"पूंजीवाद में विश्व स्नेह के स्थान पर लाभ के उद्देश्य पर घूमता है।" —ज्ञान स्ट्रेची

पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Capitalism):— पूंजीवाद पर आधारित अर्थ व्यवस्था को पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था कहते हैं। पूंजीवाद वह आर्थिक पद्धति है, जिसमें उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है। इस प्रणाली में व्यक्तिगत संपत्ति (Individual Property) तथा व्यक्तिगत स्वामित्व (Individaual ownership) की रक्षा की जाती है और कुछ सामाजिक महत्व के हस्तक्षेप के अतिरिक्त निजी संपत्ति के उपयोग पर कोई नियन्त्रण या प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है। यह प्रणाली व्यक्तियों को उत्पादन में लगभग पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करती है। यह प्रतिस्पर्धा और स्वतन्त्रता का संगठन है। इस प्रणाली में व्यक्ति अपनी संपत्ति का उपयोग अपनी इच्छानुसार सामाजिक लाभ के लिए नहीं अपितु निजी लाभ (Profit Motive) के लिए करते हैं। प्राचीन काल में संसार के लगभग सभी देशों में आर्थिक व्यवस्था का संगठन पूंजीवादी आधार पर किया जाता था। आजकल भी अमरीका, फ्रांस, इंगलैंड आदि देशों की अर्थ व्यवस्था भी पूंजीवाद पर ही आधारित है। किन्तु

आज विशुद्ध रूप में पूंजीवाद संसार के किसी भी देश में नहीं पाया जाता।

पूंजीवाद की परिभाषा:—विभिन्न विद्वानों ने पूंजीवाद की मुख्य विशेषताओं के आधार पर इसे कई प्रकार से परिभाषित किया है। नीचे कुछ प्रमुख परिभाषायें दी गई हैं:—

श्री लॉक्स और हूट (Loucks and Hoot)—"पूंजीवाद वह अर्थ व्यवस्था है, जिसमें प्राकृतिक एवं मनुष्यकृत पूंजी पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व होता है और इनका उपयोग वे अपने लाभ के लिए करते हैं।"

[redacted] जॉन स्ट्रैची (John Strachey)—"पूंजीवाद शब्द से हमारा अभिप्राय वह आर्थिक प्रणाली है जिसमें खेतों, कारखानों और खानों पर व्यक्तियों का स्वामित्व रहता है। इन उत्पादन के साधनों पर वे व्यक्ति कार्य करते हैं जो इनके स्वामी नहीं होते और उन व्यक्तियों के लाभ के लिए कार्य करते हैं जो इनके स्वामी होते हैं।"

प्रो. जी. डी. एच. कोल (Prof. G. D. H. Cole)—"पूंजीवाद लाभ के लिए उत्पादन की वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत उत्पादन के साधनों और सामग्रियों पर निजी व्यक्तियों का स्वामित्व होता है तथा काम किराये के श्रम द्वारा कराया जाता है।"

प्रो. डी. मेकराइट (Prof. D. Macwright)—"पूंजीवाद वह प्रणाली है जिसमें सामान्यतया आर्थिक क्रियाएं विशेषतया नया निवेश का अधिकांश भाग निजी इकाइयों (गैर सरकारी) द्वारा लाभ की आशा से सक्रिय और वस्तुतः स्वतन्त्र प्रतियोगिता की दशाओं में किया जाता है।"

प्रसिद्ध गांधीवादी अर्थ शास्त्री श्री भारतन कुमारप्पा (Bharatan Kumarppa) के कथनानुसार, "पूंजीवाद वह आर्थिक व्यवस्था है जहां पर वस्तुओं का उत्पादन और वितरण व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूह द्वारा किया जाता है, जो अपने संचित धन के स्टाक को अपने लिए अधिक धन प्राप्त हेतु

लाते हैं। इसलिए पूंजावाद के लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं— "व्यक्तिगत पूंजी और व्यक्तिगत लाभ।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पूंजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमें उत्पादन के साधन निजी व्यक्तियों के स्वामित्व में होते हैं जिनका प्रयोग वे प्रतियोगिता की दशा में लाभ की प्राप्ति के मुख्य उद्देश्य से करते हैं।

पूंजीवाद के मुख्य लक्षण (Features of Capitalism)—विभिन्न लेखकों द्वारा दी गई उपरोक्त परिभाषाओं से पूंजीवाद के कुछ लक्षण या विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. **सम्पत्ति का निजी स्वामित्व (Private Propetry)**—पूंजीवाद का एक प्रमुख लक्षण सम्पत्ति का निजी स्वामित्व है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार होता है, वह इस निजी सम्पत्ति को इच्छानुसार प्रयोग करने को स्वतन्त्र होता है तथा अपनी मृत्यु के पश्चात् इसे अपने उत्तराधिकारियों को देने का अधिकार रखता है। वस्तुतः वस्तुओं को प्राप्त करने, रखने, उपयोग करने और बेचने का अधिकार ही व्यक्तिगत सम्पत्ति कहलाता है। निजी सम्पत्ति का अधिकार ही व्यक्तिओं को अधिक मेहनत तथा उत्पादन करने की प्रेरणा देता है। एक विद्वान के अनुसार "निजी सम्पत्ति का जादू रेत को भी स्वर्ण में बदल देता है' ('The magic of Private Property turn the sand into the gold") उत्तराधिकार के अधिकार के कारण लोग अधिक बचत करते हैं जिससे देश में पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु सम्पत्ति के निजी अधिकार से धन, आय और अवसर की असमानता और राजनीतिक भ्रष्टाचार बढ़ता है।

2. **आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)**—पूंजीवाद में लोगों को आर्थिक स्वतन्त्रता होती है। वे अपनी इच्छानुसार सामान्यतया

किसी भी व्यवसाय को अपनाने में स्वतन्त्र होते हैं। श्रमिक अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार की नौकरी ढूंढ सकता है। लोगों को ठेका या प्रसंविदा (Contract) करने की स्वतन्त्रता होती है। उन्हें अपनी इच्छानुसार पूंजी के उपयोग का अधिकार होता है। उपभोक्ता के रूप में वे अपनी आय से इच्छित वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करने को स्वतन्त्र होते हैं।

पूंजीवाद के लक्षण

1. संपत्ति का निजी स्वामित्व
2. आर्थिक स्वतन्त्रता
3. उत्तराधिकार
4. लाभ का उद्देश्य
5. उपभोक्ता की सार्वभौमिकता
6. प्रतिस्पर्धा
7. मूल्य यन्त्र
8. समन्वय रहित उत्पादन प्रणाली
9. उद्यमकर्ता का महत्व
10. आर्थिक असमानता
11. मजदूर प्रणाली

3. उत्तराधिकार (Inheritence) पूंजीवाद में उत्तराधिकार का अधिकार भी एक आवश्यक लक्षण होता है। प्रत्येक सम्पत्ति के स्वामी को यह अधिकार होता है कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक यह निश्चय करे कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति का अधिकारी कौन होगा ? इसके अतिरिक्त यदि किसी व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकारी से निश्चित सम्बन्ध है तो उसको सम्पत्ति उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त हो जायगी। इस प्रकार इस प्रणाली में पिता की सम्पत्ति उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र को मिल जाती है।

(4) लाभ का उद्देश्य (Profit Motive)—लाभ का उद्देश्य पूंजीवाद की मुख्य संस्था है। पूंजीवाद में जितनी भी आर्थिक क्रियायें की जाती हैं उन सबका मुख्य उद्देश्य लाभ की प्राप्ति होता है। प्रत्येक व्यक्ति व्यवसायी और साहसी केवल उसी कार्य को करता है जिसमें उसे अधिकतम लाभ होता है। समाज हित पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। पूंजीवादी प्रणाली में किस वस्तु का ...

के विषय में किसी केन्द्रीय संस्था द्वारा निर्णय या निर्देशन की व्यवस्था न होने के कारण उत्पादन कार्य समन्वय रहित होता है। उपभोक्ता की माँग रुचि, फैशन तथा क्रय शक्ति को ध्यान मे रखकर हो उत्पादन कार्य किया जाता है। इसी के आधार पर ही माँग और पूर्ति का परस्पर समायोजन होता है। उत्पादक लाभ की आशा से स्वतन्त्र उत्पादन योजना बनाते हैं अतः कभी अधिक उत्पादन और कभी न्यून उत्पादन की समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(9) उद्यमकर्ता का महत्व (Importance of Entrepreneurs)—इस प्रणाली मे उद्यमकर्ता या साहसी और उसके जोखिम उठाने का विशेष महत्व होता है क्योंकि उत्पत्ति के साधनों का एकत्रीकरण, एवं उत्पादन में उपयोग की कार्यवाही करता है। वह उद्योग का कप्तान होता है। पूंजीवाद में उत्पादन वर्तमान और भावी माँग के अनुमान के अनुसार किया जाता है जिनके गलत निकल जाने पर हानि की जोखिम बनी रहती है जिसे उठाकर उत्पादन का कार्य उद्यमकर्ता ही करता है। इस प्रकार इस प्रणाली में उद्यमकर्ता का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसके साथ ही पूंजी का भी बहुत महत्व होता है।

10. आर्थिक असमानतायें (Economic inequalities):—इस प्रणाली में निजी संपत्ति का अधिकार उसके इच्छानुसार उत्पादन और उपभोग के लिए उपयोग की स्वतन्त्रता और उत्तराधिकार के नियम के कारण उत्पादन के साधन धन तथा आर्थिक शक्ति थोड़े से ही लोगों के हाथों में केन्द्रित रहती है जबकि बड़ी मात्रा में कार्य करने वाले श्रमिक गरीब रह जाते हैं। इस प्रकार धन आय और अवसर की असमानता पूंजीवाद में पाई जाती है। समाज पूंजीपति और श्रमिक दो वर्गों में विभाजित हो जाता है जिनमें बहुधा संघर्ष चलता रहता है।

11. मजदूरी प्रणाली (Wage System):—श्री कार्ल (Karl Marks) ने पूंजीवाद की एक प्रमुख [illegible]

है कि इसके अन्तर्गत श्रम एक वस्तु की तरह है और बाजार में अन्य वस्तुओं के समान ही इसका क्रय-विक्रय किया जाता है। श्री लिप्सन (Lipson) ने मजदूरी प्रणाली को पूंजीवादी उत्पादन की एक मौलिक विशेषता बतलाया है।

इस प्रकार पूंजीवाद की उपरोक्त विशेषतायें हैं जिनमें से प्रमुख हैं—निजी संपत्ति, स्वतन्त्र व्यवसाय उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, लाभ उद्देश्य और स्वतन्त्र मूल्य तन्त्र। किन्तु आज विशुद्ध पूंजीवाद कहीं भी नहीं मिलता है क्योंकि पूंजीवाद की इन प्रमुख पाँच विशेषतायें पर समाज के हित में सरकार द्वारा प्रतिबन्ध प्रत्येक देश में लगाये जाते हैं। जहाँ ये प्रतिबन्ध बहुत कम होते हैं वहाँ ही पूंजीवादी अर्थव्यवस्था होती है।

पूंजीवाद के गुण या सफलतायें
(Merits or Achievements of Capitalism)

पूंजीवादी व्यवस्था संभवतः संसार का सर्वाधिक प्राचीन आर्थिक संगठन है। इस प्रणाली का महत्व इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि यह अब तक प्रचलित है और संसार के अधिकांश विकसित देशों में जैसे अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि में सफलता पूर्वक कार्य कर रही है। कनाडा, आस्ट्रेलिया, ईरान, सऊदी अरब, स्पेन, पुर्तगाल, पश्चिमी जर्मनी आदि देशों में भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था लोकप्रिय है। पूंजीवादी प्रणाली के लाभ और सफलतायें निम्नलिखित हैं:—

1. उत्पादन और पूंजी निर्माण में वृद्धि—पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने वस्तुओं के उत्पादन में गुणात्मक एवं परिमाणात्मक दोनों ही दृष्टि से पर्याप्त वृद्धि की है। इस प्रणाली में निजी संपत्ति का नियम, लोगों को अधिक परिश्रम करके उत्पादन करने और धन कमाने की प्रेरणा देता है। उत्तराधिकार का नियम बचत करने की प्रेरणा देता है जिससे पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार पूंजीवाद के कारण विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का भारी मात्रा में उत्पादन किया जाता

है। लाभ की तृष्णा के वशीभूत होकर पूंजीपतियों ने अनेक तरह की जोखिम उठाई और उत्पत्ति के नये नये क्षेत्र खोज निकाले हैं।

2. कुशलता तथा मितव्ययिता (Efficiency and Economy)—इस व्यवस्था में उत्पादकों में प्रतिस्पर्धा रहती है और प्रतिस्पर्धा में सफल होने के लिए प्रत्येक उत्पादक अपव्यय से बचता है। वह न्यूनतम उत्पादन लागत पर अधिकतम उत्पत्ति करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार उत्पादन में कुशलता तथा मितव्ययिता बढ़ती है ? क्योंकि कम कुशलता वाले उत्पादकों को बाजार से निकलना पड़ता है। पूंजीवाद में साधनों का मितव्ययिता का पूर्ण उपयोग होता है।

3. तकनीकी प्रगति (Technical progress)—अन्य उत्पादकों की कड़ी प्रतियोगिता और लाभ का आकर्षण उत्पादकों और साहसियों को बड़े बड़े जोखिम उठाने और नये नये परीक्षण (Experiment) करने को प्रोत्साहन देता है। अतः वे नई उत्पादन विधियों और तकनीकी रीतियों की खोज करते हैं। इस प्रकार तकनीकी प्रगति होती है।

4. स्वयं संचालकता (Automaticity) पूंजीवाद का सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमें प्रत्येक आर्थिक क्रिया अपने आप होती चली जाती है क्योंकि इस प्रणाली का आधार स्वयं चालक कीमत यन्त्र रचना होती है। जब कभी कोई असन्तुलन होता है तो मांग-पूर्ति की शक्तियाँ, कीमत आदि उसे स्वयमेव ठीक कर देती है। स्वयं संचालकता के कारण सरकार को अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में चिन्ता और अधिक प्रयत्न नहीं करने पड़ते।

5. लचीलापन (Elasticity)—पूंजीवाद का एक गुण इसका लचीलापन और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन की क्षमता है। यह समय के अनुसार अपने आपको बदलता रहा है। अब पूंजीवादी देशों में भी आर्थिक स्वतन्त्रता, निजी सम्पत्ति, लाभ उद्देश्य, उपभोक्ता की प्रभुसत्ता आदि विचारों में पहले से बहुत प[रिवर्तन] ...

6. जीवन स्तर में उन्नता (Higher standard of living)—पूंजीवादी व्यवस्था में बहुत बड़ी मात्रा में विभिन्न प्रकार की वस्तुएं उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य पर उपलब्ध होने लगती है। इस प्रकार उत्पादकता और राष्ट्रीय आय बढ़ने से जीवन स्तर भी ऊंचा होता है। अमेरिका और अन्य पूंजीवादी देशों में नागरिकों के जीवन स्तर का ऊंचा होना इस बात का प्रमाण है।

7. अधिकतम सन्तुष्टि (Maximum Satisfaction)—पूंजीवादी व्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन उपभोक्ताओं की पसन्द और मांग के अनुसार होता है। उन्हें अपनी इच्छानुसार वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करने की भी स्वतन्त्रता होती है। इससे उपभोक्ताओं को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

पूंजीवाद के गुण

1. उत्पादन और पूंजी निर्माण में वृद्धि
2. कुशलता तथा मितव्ययिता
3. तकनीकी प्रगति
4. स्वयं संचालकता
5. लचीलापन
6. जीवन स्तर में उन्नता
7. अधिकतम सन्तुष्टि
8. आर्थिक राजनीतिक व सामाजिक स्वतन्त्रता
9. व्यक्तियों के गुणों का विकास
10. जनतन्त्रीय पद्धति

8. आर्थिक राजनीतिक व सामाजिक स्वतन्त्रता (Economic, Political & Social Freedom)—इस व्यवस्था में कुछ सामाजिक दृष्टि से निर्धारित सीमाओं के अतिरिक्त नागरिकों को सब प्रकार की स्वतन्त्रता होती है। सरकारी हस्तक्षेप बहुत कम होता है। व्यक्तियों को व्यवसाय करने, वस्तुओं को उपभोग करने एवं हस्तांतरित करने की स्वतन्त्रता होती है।

9. व्यक्तियों के गुणों का विकास (Development of Individual qualities) पूंजीवाद में जो उत्पादक अधिक योग्य होता है वही अधिक लाभ कमाता है। इसके अतिरिक्त प्रतियोगिता

के कारण प्रत्येक व्यक्ति भरसक प्रयत्न करता है। इससे व्यक्तिगत गुणों का विकास होता है साथ ही सर्वाधिक योग्य व्यक्ति ही अधिक लाभ प्राप्त करते हैं।

10. जनतन्त्रीय पद्धति—पूंजीवाद में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता इस प्रणाली को लोकतांत्रिक स्वरूप प्रदान करती है। जिस प्रकार जनतन्त्र में नागरिकों के बहुसंख्यक मतों द्वारा देश की सरकार का चुनाव होता है उसी प्रकार पूंजीवादी प्रणाली मे उपभोक्ताओ के बहुसंख्यक मतों द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि किस प्रकार की वस्तु का कितनी मात्रा मे और कब उत्पादन किया जाय। इसमें सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम होता है।

पूंजीवाद के दोष (Demerits Capitalism)—उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था ने विश्व को अत्यधिक लाभ पहुँचाया है पूंजीवाद ने उत्पादन की नवीन विधियों, संगठन के नये स्वरूपों, नई वस्तुओं, पूर्ति के नये श्रोतों, नये बाजारों और व्यापारिक मार्गों को दिया है। पूंजीवाद के अन्तर्गत जो आश्चर्य-जनक प्रगति हुई है उसकी विरोधियों ने भी प्रशंसा का है। इंगलैण्ड की औद्योगिक और व्यापारिक क्रान्तियो के अध्ययन से पूंजीवाद के गरिमामय परिणामों का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु पूंजीवाद अमिश्रित वरदान (unmixed blessing) नही है। इसके कुछ महत्वपूर्ण दोष हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) आर्थिक असमानतायें (Economic inequalities)—पूंजीवादी समाज का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह समाज में आय और धन के वितरण की असमानता को जन्म देती है और उसको बढ़ाती है। निजी सम्पत्ति का अधिकार, उत्तराधिकार का अधिकार, स्वतन्त्र व्यवसाय और मूल्य तन्त्र आर्थिक असमानताओ को जन्म देते हैं। उत्पत्ति के साधन और धन थोड़े से धनी लोगों के हाथ मे केन्द्रित हो जाते हैं जिसका उपयोग करके वे और अधिक धनवान हो जाते हैं और गरीब व्यक्ति

और अधिक गरीब बनते जाते हैं। परिणाम स्वरूप समाज के मुट्ठी भर लोग अत्यन्त विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं जबकि दूसरी ओर अधिकांश जनता अपनी आधारभूत आवश्यकताएं भी पूरी नहीं कर पाती है। अमरीकी राष्ट्रपति की रिपोर्ट के अनुसार 1948 में 56% आय केवल 26% परिवारों को प्राप्त होती थी तथा शेष 44% राष्ट्रीय आय 74% परिवारों का मिल पाती थी।

पूंजीवाद के दोष

1. आर्थिक असमानताएं
2. सामंजस्य का अभाव और आर्थिक अस्थिरता
3. अनार्जित आय और परोपजीविता
4. अर्थ व्यवस्था का असंतुलित विकास
5. श्रमिकों का शोषण और आर्थिक असुरक्षा
6. वर्ग संघर्ष
7. सामाजिक कल्याण की उपेक्षा
8. एकाधिकारी पद्धति
9. प्रतियोगिता के अपव्यय

2. सामंजस्य का अभाव और आर्थिक अस्थिरता (Lack of Co-operation and Trade Cycles)—पूंजीवाद में असंख्य उत्पादकों को कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं होती। वे बिना एक दूसरे के परामर्श और जानकारी के अपनी उत्पादन योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं जिससे कभी माँग से कम उत्पादन (Under Production) और कभी अधिक उत्पादन (Over Production) होता रहता है। इससे अर्थव्यवस्था में भी तेज़ी और कभी मंदी आती रहती है। मंदीकाल में उद्योगों को हानि होती है अतः उत्पादन कम करना पड़ता है जिसस बेकारी फैलती है। इस प्रकार पूंजीवादी प्रणाली में आर्थिक स्थायित्व नहीं रह पाता है।

3. अनार्जित आय और परोपजीविता (Unearned Income and Parasitism)—पूंजीवादी प्रणाली में कुछ वर्ग बिना प्रयत्न

किये ही दूसरों के प्रयत्नों से प्राप्त संपत्ति पर जीवित रहते हैं। उनको बिना प्रयत्न किये ही ब्याज, लगान, लाभ, किराया आदि के रूप में पर्याप्त आय होती है। इस प्रकार ये व्यक्ति बिना परिश्रम से कमाई हुई आय से ही सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

(4) अर्थव्यवस्था का असंतुलित विकास (Unbalanced Growth of Economy) पूंजीवाद में अर्थव्यवस्था का संतुलित विकास नहीं हो पाता क्योंकि उद्योगपति उन्हीं व्यवसायों को और उन्हीं स्थानों पर शुरू करते हैं जहां उन्हें अधिक लाभ की आशा हो। देश के लिए किस स्थान पर किस उद्योग की आवश्यकता है इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है।

(5) श्रमिकों का शोषण और आर्थिक असुरक्षा (Expliotstion of Jabour) पूंजीपति श्रमिकों की अपेक्षा अधिक से अधिक शक्तिशाली होता है। अतः वह श्रमिकों को कम से कम मजदूरी देकर अधिक से अधिक काम लेता है वह श्रम के स्थान पर मशीनों का भी प्रतिस्थापन करता है। व्यापार चक्र आदि के कारण भी श्रमिक बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार पूंजीवाद में आय के जारी रहने की अनिश्चितता बनी रहती है।

(6) वर्ग संघर्ष (Class conflicts)—उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली में समाज पूंजीपति और श्रमिक दो वर्गों में बंट जाता है। उत्पादन में दोनों पक्ष अधिकाधिक भाग लेना चाहते हैं अतः दोनों में संघर्ष चलता रहता है। हड़तालों और ताला-बन्दियों से देश की शांति और उत्पादन खतरे में पड़ जाते हैं।

(7) सामाजिक कल्याण की उपेक्षा (Indifference about Social Welfare)—पूंजीवाद में उद्यमकर्ता का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है अतः इसमें समाज के कल्याण पर ध्यान नहीं दिया जाता है, उद्योगपति केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनसे उनका लाभ हो, चाहे इससे समाज को हानि

(8) एकाधिकारी प्रवृत्ति (
प्रतिस्पर्धा से बचने और अधिकाधिक लाभ

उत्पादक मिल करके उत्पादक संघ तथा एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और उपभोक्ताओं से मनमाना मूल्य वसूल करके उनका शोषण करते हैं।

(9) **प्रतियोगिता के अपव्यय (Wastes of Competition)**—पूंजीवाद में उत्पादकों में प्रतियोगिता होती है। प्रतियोगिता में सफल होने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में धन प्रचार और विज्ञापन आदि पर व्यय किया जाता है। इसी प्रकार बहुत सारा धन अपनी प्रतियोगी फर्मों को समाप्त करने के लिए व्यय किया जाता है। कभी कभी गला घोटू प्रतियोगिता (Cut throat Competition) के परिणाम स्वरूप फर्म असफल हो जाती हैं।

वस्तुतः पूंजीवाद में इतने दोष आ गये हैं कि आधुनिक युग में विशुद्ध पूंजीवादी व्यवस्था कहीं भी देखने को नहीं मिलती आज का पूंजीवाद उन्नीसवीं शताब्दी के पूंजीवाद से जब इसका जन्म हुआ था, नितान्त भिन्न है। समय के साथ इसमें बहुत परिवर्तन होते रहे हैं। यद्यपि आज समाजवादी विचार धारा को काफी बल मिला है किन्तु अपने परिवर्तित रूप में पूंजीवाद आज भी अधिकांश देशों में प्रचलित । इस प्रकार पूंजीवाद का विशुद्ध रूप में कोई भविष्य नहीं है किन्तु इन देशों ने इसमें सुधार करके इसके दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। आधार भूत उद्योगों को सरकार द्वारा चलाना स्वतन्त्र बाजार प्रणाली में सरकारी हस्तक्षेप, नियंत्रण (control) प्रगतिशील करों द्वारा धन के समान वितरण के प्रयत्न, एकाधिकार पर अंकुश, मजदूरों का प्रबन्ध और लाभ में हिस्सा योजना तथा व्यापार चक्रों को रोकने की कार्यवाहियों द्वारा पूंजीवाद के दोष को बहुत कम किया जा सकता है। इस रूप में पूंजीवाद का विश्व के आर्थिक विकास में काफी योग हो सकता है।

सारांश

पूंजीवाद का अर्थ—पूंजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाला है जिसमें उत्पादन के साधन निजी व्यक्तियों के स्वामित्व में होते हैं जिनका

प्रयोग से प्रतियोगिता की दशा में लाभ की प्राप्ति के मुख्य उद्देश्य से करते हैं इस प्रणाली में आर्थिक क्रियाओं पर सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम होता है।

पूंजीवाद के लक्षण—(i) सम्पत्ति का निजि स्वामित्व (ii) आर्थिक स्वतन्त्रता (iii) उत्तराधिकार (iv) लाभ का उद्देश्य (v) उपभोक्ता की सार्वभौमिकता (vi) प्रतिस्पर्धा (vii) मूल्य-यंत्र (viii) समन्वय रहित उत्पादन प्रणाली (ix) उद्यमकर्त्ता का महत्व (x) आर्थिक असमानता (xi) मजदूरी प्रणाली।

पूंजीवाद के गुण—(i) उत्पादन और पूंजी निर्माण में वृद्धि (ii) कुशलता तथा मितव्ययिता (iii) तकनीकी प्रगति (iv) स्वयं संचालकता (v) लचीलापन (vi) जीवन स्तर में उच्चता (vii) अधिकतम संतुष्टि (viii) आर्थिक राजनीतिक व सामाजिक स्वतन्त्रता (ix) व्यक्तियों के गुणों का विकास (x) जनतन्त्रीय पद्धति।

पूंजीवाद के दोष—(i) आर्थिक असमानताएं (ii) सामंजस्य का अभाव और आर्थिक अस्थिरता (iii) अनार्जित आय और परोपजीविता (iv) अर्थ व्यवस्था का असन्तुलित विकास (v) श्रमिकों का शोषण और आर्थिक असुरक्षा (vi) वर्ग संघर्ष (vii) सामाजिक कल्याण की उपेक्षा (vii) एकाधिकारी प्रवृत्ति (ix) प्रतियोगिता अपव्यय।

प्रश्न

1. 'पूंजीवाद' का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताएं बतलाइये।
2. पूंजीवाद से आप क्या समझते हैं? पूंजीवाद की परिभाषा दीजिये।
3. पूंजीवाद के गुण दोषों का विवेचन कीजिये।
4. पूंजीवाद की सफलताएं बतलाइये। इसके दोषों से मुक्ति के लिए क्या किया जाना चाहिए?

———

16

समाजवादी अर्थव्यवस्था

SOCIALISTIC ECONOMY

"समाजवाद एक टोप है जिसकी शक्ल इसलिए बिगड़ गई है क्योंकि इसे सभी ने पहनना आरम्भ कर दिया है।"

—सी. ई. एम. जोड़

"समाजवाद या समाजवादी अर्थ व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Socialism or Socialistic Economy):—समाजवादी अर्थव्यवस्था पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विपरीत होती है। इसका जन्म पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ है। समाजवादी अर्थव्यवस्था एक ऐसी आर्थिक प्रणाली होती है जिसमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व और नियन्त्रण की अपेक्षा सारे समाज का स्वामित्व और नियन्त्रण होता है। समाज के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व होता है जिनका उपयोग वह समाज के अधिकाधिक लाभ के लिए करता है। इसमें आर्थिक क्रियाओं का देश हित में एक सामान्य योजना के अनुसार संचालित किया जाता है और राष्ट्रीय आय का व्यक्तियों में न्याययुक्त वितरण किया जाता है। परिणाम स्वरूप "मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण" नहीं होने पाता है। समाजवाद में निजी लाभ के उद्देश्य से उत्पादन नहीं पाया जाता है और न ही यहां समाजवर्गों में विभाजित

होता है। यहाँ प्रत्येक आर्थिक क्रिया में सरकारी हस्तक्षेप पाया जाता है जिसका लक्ष्य सार्वजनिक कल्याण में वृद्धि होता है।

समाजवाद या समाजवादी अर्थव्यवस्था की परिभाषा:—(Definition of Socialism or Socialistic Economy):—

प्रो. सिडनी वेब (Prof. Sidney Webb) के अनुसार, "समाजवाद का मुख्य लक्षण यह है कि उद्योग व सेवायें और उत्पादन के साधन निजी व्यक्तियों के स्वामित्व में नहीं होने चाहिए। साथ ही औद्योगिक और सामाजिक शासन की व्यवस्था निजी लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं होनी चाहिए।"

प्रो. मारिस डाब (Prof. Maurice Dobb) के शब्दों में, "समाजवाद का प्रधान लक्षण, सपत्ति स्वामी वर्ग की समाप्ति और भूमि और पूंजी के राष्ट्रीयकरण द्वारा उन वर्ग सम्बन्धों (Class Relations) की समाप्ति है जो कि पूंजीवादी उत्पादन का आधार है।"

प्रो. एच. डी. डिकेन्सन (Prof. H. D. Dickenson) ने लिखा है कि, "समाजवाद एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है, जिसमें उत्पादन के भौतिक साधन, किसी साधारण आर्थिक योजना के अनुसार समाज के स्वामित्व मे होते हैं और सभी सदस्य इस प्रकार के समाजवादी आयोजित उत्पादन के परिणामों में समानता के आधार पर लाभ के अधिकारी होते हैं।"

श्री मोरीसन (Morrison) के मतानुसार, "समाजवाद का मुख्य लक्षण यह है कि समस्त बड़े उद्योग और भूमि पर सार्वजनिक या सामूहिक स्वामित्व हो और उनको निजी लाभ की अपेक्षा सामान्य हित के लिए उपयोग मे लाया जाय।"

डा० तुगन बारानोवस्की (Dr. Tugan Baranow
में "समाजवाद का सार यह है कि इसके अन्त
व्यक्ति का शोपण नहीं हो सकता है। वर्तमान

प्रेरणा के आधार पर चल रही है परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था का उद्देश्य अधिकतम कल्याण प्राप्त करना होता है।......... वस्तुओं का उत्पादन समाज के लिए इनकी उपयोगिता के आधार पर होता है।"

प्रो० लुक्स (Prof Loucks) ने एक अच्छी परिभाषा देते हुए लिखा है कि *"समाजवाद वह आन्दोलन है जिसका उद्देश्य सभी प्रकार की प्रकृतिदत्त तथा मनुष्यकृत वस्तुओं का, जो कि बड़े पैमाने के उत्पादन में प्रयोग की जाती हैं, स्वामित्व तथा प्रबन्ध व्यक्तियों के स्थान पर समस्त समाज के हाथ में देना होता है और इसका उद्देश्य यह होता है कि व्यक्ति की आर्थिक प्रेरणा या उसकी व्यावसायिक एवं उपभोग सम्बन्धी चुनाव करने की स्वतन्त्रता को नष्ट किये बिना ही बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय का समान वितरण हो सके।"*

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पत्ति के साधन समाज या उसके प्रतिनिधि के रूप में राज्य के अधिकार में होते हैं जिनका उपयोग व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा अधिकाधिक सामाजिक कल्याण की दृष्टि से किया जाता है।

समाजवादी अर्थ व्यवस्था की मुख्य विशेषतायें (Fundamental Characterstics of Socialism)—समाजवाद सम्बन्धी उपरोक्त परिभाषाओं से समाजवादी अर्थ व्यवस्था की कुछ सामान्य विशेषतायें परिलक्षित होती हैं मुख्य विशेषतायें निम्न हैं जिनके अध्ययन से समाजवाद का अर्थ अच्छी प्रकार समझने में सहायता मिलेगी—

(1) उत्पत्ति के साधनों पर समाज या सरकार का स्वामित्व *(Social or State ownership of the means of Production)*-समाजवादी अर्थव्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण परिभाषा उत्पादन के साधनों का समाज या उसके प्रतिनिधि के रूप में सरकार का स्वामी होना है। पूंजीवाद में जहाँ साधनों का निजी स्वामित्व होता है वहाँ समाजवाद में व्यक्तिगत संपत्ति और उत्तराधिकार आदि संस्थायें नहीं होती हैं। भूमि, खानें, वन, यातायात व संवादवहन के साधनों, कारखानों, बैंकों

थादि उत्पत्ति के साधनों पर सरकार का स्वामित्व और नियंत्रण होता है।

(2) व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामाजिक कल्याण का उद्देश्य (Social welfare motive in Place of Profit Motive)—जहाँ पूंजीवाद अर्थ व्यवस्था में उत्पादन निजी लाभ के उद्देश्य से किया जाता है वहां समाजवादी अर्थ व्यवस्था में सामाजिक कल्याण की दृष्टि से उत्पादन किया जाता है। समाजवाद में उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जो जन-साधारण की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक है और जिनसे अधिकतम सामाजिक हित सम्भव है जबकि पूंजीवाद में उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जो उत्पादकों को अधिकाधिक लाभ दे सके।

3. आर्थिक समानता पर बल (Emphasis on Economic equality)—समाजवाद में उत्पादन के साधनों पर सरकार का स्वामित्व होता है और वह अर्थ व्यवस्था का संचालन और निर्देशन इस प्रकार करती है जिससे धन का अधिकाधिक समान वितरण हो। इस प्रणाली में सरकार शोषण की समाप्ति करती है और नागरिकों को प्रगति करने के अवसर की समानता प्रदान करती है।

4 आर्थिक नियोजन (Economic Planning)—समाजवादी अर्थ व्यवस्था का संचालन एक निश्चित योजना के अनुसार एक केन्द्रीय संस्था द्वारा किया जाता है। नियोजन समाजवादी अर्थ व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था की विशेषतायें
1. उत्पत्ति के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व
2. लाभ के स्थान पर सामाजिक कल्याण उद्देश्य।
3. आर्थिक समानता पर बल
4. आर्थिक नियोजन
5. सरकार द्वारा उत्पादन तथा वितरण का नियन्त्रण
6. अनुपार्जित आय की समाप्ति
7.

5. सरकार द्वारा उत्पादन तथा वितरण का नियन्त्रण (Control of Government on Production and distribution):—समाजवादी अर्थव्यवस्था की एक विशेषता यह होती है कि किन किन वस्तुओं का किस-किस मात्रा में उत्पादन किया जाय और उत्पादित धन का किस प्रकार वितरण किया जाय यह बात सरकार निश्चित करती है। साथ ही सरकार स्वयं भी अधिक से अधिक उत्पत्ति कार्य करती है।

6. अनुपार्जित आय की समाप्ति (End of Unearned Income):—इस व्यवस्था में पूंजीवाद के समान अनुपार्जित आय के लिए कोई स्थान नहीं होता है। यहां सभी व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करते हैं।

7. प्रतियोगिता की कमी (Lack of Competition):—इस प्रणाली में सरकार ही वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की मात्रा, प्रकार और उनकी कीमत निर्धारित करती है। जिसके परिणामस्वरूप प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है।

समाजवाद के रूप
(Forms of Socialism)

समाजवाद को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism) तथा द्वितीय क्रान्तिवादी (Revolutionary) समाजवाद। यद्यपि दोनों के लक्ष्य समान हैं किन्तु उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधनों में अन्तर होता है। विकासवादी समाजवाद का उद्देश्य धीरे-धीरे तथा शान्तिपूर्ण और वैधानिक तरीकों से समाजवाद की स्थापना करना है। इसके विपरीत क्रान्तिकारी समाजवाद में अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हिंसक तथा क्रान्तिकारी रीतियों का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रथम प्रकार का समाजवाद राज्य को समाप्त करना नहीं चाहता जबकि दूसरे प्रकार का समाजवाद राज्य को भी शोषण का साधन

मानते हुए समाप्त करना चाहता है। रूस, चीन आदि देशों का समाजवाद क्रांतिकारी समाजवाद है जब कि ब्रिटेन की लेबरपार्टी का समाजवाद या भारत का समाजवादी ढंग का समाज (Socialistic Pattern of Society) विकासवादी समाजवाद कहे जा सकते हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्था के गुण

(Merits of Socialistic Economy)

विश्व के कई देशों में समाजवादी अर्थव्यवस्था स्थापित हो गई है या स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। इसका कारण इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था के कुछ गुण या लाभ हैं जो निम्नलिखित है—

1. प्राकृतिक तथा आर्थिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग (Maximum utilisation of natural and economic resources)—समाजवादी अर्थव्यवस्था सामान्यतया एक नियोजित अर्थव्यवस्था होती है जिसमें एक केन्द्रीय नियोजन संस्था द्वारा देश के समस्त प्राकृतिक और आर्थिक साधनों का नियोजित और सन्तुलित ढंग से उपयोग किया जाता है। इससे देश का तीव्र आर्थिक विकास होता है और उत्पादन में वृद्धि होती है।

2. आर्थिक समानता (Economic equality)—समाजवादी अर्थ व्यवस्था में आय का लगभग समान वितरण होता है इस प्रणाली में अर्थ व्यवस्था का संचालन इस प्रकार किया जाता है जिससे लोगों में धन, आय और अवसर की असमानताएँ न रहें। समाजवादी अर्थ व्यवस्था का मुख्य सिद्धांत होता है "प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार कार्य कराना और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार देना।" पूंजीवाद की तरह निर्धन और धनिक, शोषित और शोषक, विलासिता और भुखमरी, समाजवाद में देखने को नहीं मिलती है।

समाजवाद के गुण

1. प्राकृतिक तथा आर्थिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग।
2. आर्थिक समानता।
3. व्यापार चक्रों का निवारण और आर्थिक स्थायित्व।
4. औद्योगिक शांति।
5. अधिकतम संतुष्टि और सामाजिक कल्याण।
6. वास्तविक स्वतंत्रता।
7. श्रम की प्रतिष्ठा और परोपजीविता का अन्त।
8. नैतिक दृष्टि से उत्तम।
9. उत्पादन में मितव्ययिता।

(3) व्यापार चक्रों का निवारण और आर्थिक स्थायित्व (End of trade cycles & Economic stability)-पूंजीवाद की एक बड़ी कमजोरी व्यापार चक्र अर्थात् तेजी मंदी, अति उत्पादन और न्यून उत्पादन है। समाजवाद में इस प्रकार के तेजी मंदी के व्यापार चक्र नहीं आते और आर्थिक क्रियाओं में स्थायित्व रहता है। बेरोजगारी का भी इसमें निराकरण हो जाता है।

(4) औद्योगिक शांति (Industrial Peace)—समाजवाद में उत्पादन और वितरण सरकार के द्वारा या उसके नियन्त्रण में होने के कारण समाज पूंजीपति और श्रमिक आदि वर्गों में विभाजित नहीं होता है। परिणाम स्वरूप हड़तालें और ताला बन्दियां नहीं होती और औद्योगिक शांति रहती है जिसका उत्पादन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(5) अधिकतम संतुष्टि और सामाजिक कल्याण (Maximum Satisfaction and Social welfare)—इस प्रणाली में उत्पादन लाभ के उद्देश्य से नहीं किया जाता बल्कि अधिकतम सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से किया जाता है। अतः उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनकी उपभोक्ताओं को अधिक आवश्यकता हो और जो समाज के लिए अधिक उपयोगी हों। इसमें सामान्य व्यक्ति की अधिकाधिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है।

(6) वास्तविक स्वतन्त्रता (Real Freedom)—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था व्यक्ति को भूख, बीमारी, निर्धनता आदि से मुक्ति दिलाकर आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस प्रकार समाजवाद में व्यक्ति को रोजगार, सामाजिक सुरक्षा और आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करके वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। इसके विपरीत जैसा कि डा. कुमारप्पा (Dr. Kumarappa) ने कहा है। "यह स्वतंत्रतायें जिनका इतना अधिक वर्णन पूंजीवाद में किया जाता है केवल कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के लिए होती हैं, श्रमिक के लिए नहीं जो दास बना दिया जाता है।"

(7) श्रम की प्रतिष्ठा और परोपजीविता का अंत (Dignity of labour and end of parasitism):—समाजवाद में ब्याज, लाभ लगान आदि के रूप में बिना प्रयास किये ही निजी संपत्ति या दूसरों के श्रम पर जीवित रहने की प्रथा समाप्त हो जाती है। कोई भी मनुष्य बिना श्रम किये आय प्राप्त नहीं कर सकता है। इससे श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ती है।

(8) नैतिक दृष्टि से उत्तम (Ethical)—समाजवादी अर्थ व्यवस्था में व्यक्तियों का शोषण नहीं होता और नागरिकों की बुनियादी आवश्यकतायें पूरी की जाती हैं। स्वार्थपरता के स्थान पर परोपकारिता और गलाघोंट प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग और सहकारिता को महत्त्व दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम और आवश्यकता के अनुसार प्रतिफल मिलता है। इस प्रकार यह व्यवस्था नैतिक दृष्टि से भी उचित है।

(9) उत्पादन में मितव्ययता (Economy in
इस प्रणाली में उत्पादन और उद्योग सरकार के
अतः विज्ञापन, विक्रय कला आदि के रूप में

होता। इसके अतिरिक्त पूंजीवाद में होने वाली प्रतियोगिता के अपव्यय से मुक्ति मिल जाती है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के दोष

(Defects of Socialism)

समाजवादी अर्थ व्यवस्था के विषय में भी कई तर्क दिये जाते हैं। ये तर्क समाजवाद के दोषों पर आधारित हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(1) **प्रेरणा की कमी (Lack of incentive)**—समाजवादी अर्थ व्यवस्था में श्रमिकों की कुशलता और उत्पादकता में वृद्धि के लिए प्रेरणा का अभाव होता है। श्रमिकों की आय मुख्य रूप से उनकी उत्पादन कुशलता पर नहीं अपितु सरकार द्वारा निर्धारित वितरण के सिद्धांत पर निर्भर होती है। इससे कुशल श्रमिक का कोई आर्थिक प्रेरणा नहीं मिलती है।

(2) **कुशलता तथा उत्पादकता में कमी (Lack of efficiency)**—समाजवादी अर्थ व्यवस्था में उद्योगों का प्रबन्ध तथा नियंत्रण सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है। सरकारी अधिकारियों का उद्योग की उन्नति में उतना निजी स्वार्थ नहीं होता जितना निजी कार्य-कर्त्ताओं का। सरकारी अधिकारियों की उन्नति प्रायः उनकी ज्येष्ठता (Seniority) पर निर्भर करती है न कि उनकी कुशलता पर। अतः वे उद्योगों की उन्नति के लिए अधिक पहल नहीं करते और साहसपूर्ण जोखिम से जन आलोचना के कारण बचना चाहते हैं। परिणाम स्वरूप उत्पादन की कुशलता और उत्पादकता में कमी आ जाती है।

(3) **स्वयं संचालित मूल्य यंत्र का अभाव (Absence of automatic Price Mechanism)**—समाजवादी अर्थ व्यवस्था में

पूंजीवाद की तरह प्रतियोगिता और मूल्य-यंत्र का अभाव होता है। समाजवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पत्ति के साधनों पर समाज का स्वामित्व होता है। वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण नियोजन अधिकारी द्वारा इच्छानुसार किया जाता है। इस प्रकार मूल्य-प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था अपने आप संचालित होती है उसका यहां अभाव होता है।

(4) उपभोक्ता की स्वतन्त्रता का अभाव (Lack of the freedom of Consumer)—पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में उपभोक्ता सम्प्रभु होता है तथा उसी की मांग, इच्छा, रुचि व फैशन के अनुसार ही उत्पादकों को वस्तुओं का उत्पादन करना पड़ता है। किन्तु समाजवादी अर्थ व्यवस्था में उसे राज्य द्वारा निश्चित व उत्पादित वस्तुयें प्रदान की जाती है। उपभोक्ता को वस्तुओं के मूल्य, गुण आदि का चुनाव करने का भी कोई अवसर नहीं होता है। समाजवाद में समस्त आर्थिक जीवन पर राज्य का नियंत्रण होता है।

समाजवादी अर्थ व्यवस्था के दोष
1. प्रेरणा की कमी
2. कुशलता तथा उत्पादकता में कमी
3. स्वयं संचालित मूल्य यंत्र का अभाव
4. उपभोक्ता की स्वतंत्रता का अभाव
5. शक्ति का केन्द्रीयकरण
6. व्यवसायिक स्वतंत्रता का अभाव
7. साधनों का विवेकपूर्ण वितरण
8. शीघ्र और साहसयुक्त निर्णय का अभाव

(5) शक्ति का केन्द्रीयकरण (Concentration of Power)—समाजवादी अर्थ व्यवस्था राज्य द्वारा नियोजित अर्थ व्यवस्था है। इसमें देश का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन राज्य नियोजन संस्थाओं द्वारा नियोजित किया जाता है। इसका परिणाम सरकार के हाथ में शक्ति का अत्यधिक केन्द्रीयकरण हो जाता है। डा. गारत्स

(Dr. Bharatan Kumarappa) के अनुसार "समाजवाद उस शक्ति को हस्तगत कर लेता है जो कि वास्तव में व्यक्तियों की है और इसे राज्य में केन्द्रित कर देता है। शक्ति का यह केन्द्रीयकरण धन के केन्द्रीयकरण से कम हानिप्रद नहीं है।"

(6) व्यावसायिक स्वतन्त्रता का अभाव (No Freedom of occupation)—समाजवाद में नागरिकों को व्यवसाय और उपक्रम को चुनने की स्वतन्त्रता नहीं होती। इसमें श्रमिक अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं चुन सकते। उन्हें बहुधा वह कार्य करना ही होता है जिसकी आज्ञा नियोजन अधिकारी देता है।

(7) साधनों का अविवेकपूर्ण वितरण (Irrational allocation of resources)—पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पत्ति के साधनों का विभिन्न प्रयोगों में उचित वितरण स्वतः ही मूल्य-यंत्र द्वारा हो जाता है। जिन वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की मांग अधिक होती है। उनका मूल्य भी अधिक होता है। इन वस्तुओं के उत्पादन में उत्पादकों को अधिक लाभ होता है और इन उपयोगों में साधन स्वतः ही वितरित हो जाते हैं किंतु समाजवादी अर्थ व्यवस्था में साधनों के वितरण के लिए कोई इस प्रकार का स्वयं संचालित यंत्र नहीं होता। सरकार केवल मनमाने ढंग से साधनों का विभिन्न उपयोगों में वितरण करती है। इन सबके परिणाम स्वरूप साधनों का विवेकपूर्ण वितरण नहीं हो पाता।

(8) शीघ्र और साहसयुक्त निर्णय का अभाव (Lack of quick decision)—समाजवादी अर्थ व्यवस्था में लाल फीता शाही पनपती है। योजना के निर्माण करने और क्रियान्वन के लिए कई विभागों और संस्थाओं की स्थापना करनी पड़ती है और अन्तिम निर्णय के

के लिए कई सम्बन्धित विभागों से सलाह लेनी पड़ती है। अतः निर्णय शीघ्र नहीं होने पाते हैं। आज बाजार तंत्र और समाजवाद दोनो के साथ-साथ चलने की बात भी संभव मानी जाती है।

समाजवाद का भविष्य (Future of Socialism)—समाजवाद के जितने भी दोषों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन सब के विषय में (Marx) और उसके अनुयायियों का यह विचार है कि दोष समाजवाद की केवल प्रारम्भिक अवस्था मे ही पाये जाते हैं। कुछ समय के बाद यह दोष दूर हो जाते हैं। वास्तव में समाजवादी अर्थ व्यवस्था में न केवल पूंजीवाद के कई महत्वपूर्ण दोषों को समाप्त कर दिया जाता है अपितु उससे कुछ धनात्मक और अधिक महत्वपूर्ण लाभ भी होते हैं। इसमें उत्पादन में विस्तार होता है, बेरोजगारी समाप्त हो जाती है, आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है मनुष्य को मनुष्य का सम्मान मिलता है। आर्थिक स्थिरता बनी रहती है और आर्थिक विषमता का अन्त कर दिया जाता है। प्रो० पीगू (Prof Pigou) ने भी कहा है कि पूंजीवादी ढंग की अपेक्षा समाजवादी केन्द्रीय योजना का ढंग यदि उसे ठीक प्रकार चलाया जाय अधिक उत्तम है। यही कारण है कि आज विश्व के कई देशो मे समाजवादी अर्थ व्यवस्था है। सोवियत रूस, चीन, युगोस्लावाकिया, चेकोस्लावाकिया, पोलेन्ड, हंगरी उत्तरी कोरिया, रूमानिया, अल्बानिया, पूर्वी जर्मनी तथा अन्य पूर्वी यूरोप के देशो मे तो समाजवादी अर्थ व्यवस्था स्थापित हो ही गई है किन्तु एशिया और अफ्रीका के कई देशो मे भी समाजवादी अर्थ व्यवस्था स्थापित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। भारत में भी समाजवादी ढंग के समाज (Socialistic pattern of Society) के निर्माण के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस प्रकार विश्व मे समाजवाद का भविष्य उज्जवल है। समाजवाद आज युग का नारा बन गया है। श्री नोरमन मैकेन्जी (Norman Mackenzis) के शब्दों में "समाजवाद की आलोचना या समर्थन किया जा सकता है किन्तु निश्चित रूप से नहीं जा की सकती है।"

सारांश

समाजवादी अर्थ व्यवस्था का अर्थ—समाजवादी अर्थ व्यवस्था एक ऐसी आर्थिक प्रणाली होता है जिसमें समाज के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व होता है जिनका उपयोग वह समाज के अधिकाधिक लाभ के लिये करता है। इसमें आर्थिक क्रियाओं को देश हित में एक सामान्य योजना के अनुसार संचालित किया जाता है और राष्ट्रीय आय का व्यक्तियों में न्यायोचित वितरण किया जाता है।

समाजवादी अर्थ व्यवस्था की विशेषतायें—(1) उत्पत्ति के साधनों पर सरकार या समाज का स्वामित्व (2) व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामाजिक कल्याण का उद्देश्य (3) आर्थिक समानता पर बल (4) आर्थिक नियोजन (5) सरकार द्वारा उत्पादन तथा वितरण पर नियंत्रण (6) अनुपार्जित आय की समाप्ति (7) प्रतियोगिता का अन्त।

समाजवादी अर्थ व्यवस्था के लाभ—(1) प्राकृतिक तथा आर्थिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग (2) आर्थिक समानता (3) व्यापार चक्रों का निवारण (4) औद्योगिक शान्ति (5) अधिकतम सन्तुष्टि और सामाजिक कल्याण (6) वास्तविक स्वतन्त्रता (7) श्रम की प्रतिष्ठा और परोपजीविता का अन्त (8) नैतिक दृष्टि से उत्तम (9) उत्पादन में मितव्ययिता।

समाजवादी अर्थ व्यवस्था के दोष—(1) प्रेरणा की कमी (2) कुशलता तथा उत्पादकता में कमी (3) स्वयं संचालित मूल्य यन्त्र का अभाव (4) उपभोक्ता की स्वतन्त्रता का अभाव (5) शक्ति का केन्द्रीयकरण (6) व्यावसायिक स्वतन्त्रता का अभाव (7) साधनों का अविवेकपूर्ण वितरण (8) शीघ्र और साहस युक्त निर्णय का अभाव।

समाजवादी अर्थ व्यवस्था आज कई देशो में स्थापित हो चुकी है और कई देशों में इसकी स्थापना के प्रयत्न किये जा रहे हैं। समाजवाद आज युग का नारा बन गया है।

प्रश्न

1. "समाजवादी अर्थ व्यवस्था" का अर्थ स्पष्ट कीजिये। समाजवाद के विभिन्न रूप कौन-कौन से हैं?
2. "समाजवादी अर्थ व्यवस्था" किसे कहते हैं? समाजवाद की परिभाषा दीजिये।
3. समाजवाद की प्रमुख विशेषताएं बतलाइये।
4. समाजवादी अर्थ व्यवस्था के गुण-दोषों का वर्णन कीजिये।
5. समाजवाद और पूंजीवाद की तुलना कीजिये। समाजवादी अर्थ व्यवस्था पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था से किन बातों में श्रेष्ठ है?
6. "समाजवाद की आलोचना या समर्थन किया जा सकता है किन्तु निश्चित रूप से इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

17 मिश्रित अर्थव्यवस्था

MIXED ECONOMY

"मैं इस को सर्वोच्च महत्त्व की बात मानता हूं कि एक ओर तो व्यापारियों और उद्योगपतियों में और दूसरी ओर सरकार में बुद्धिमान विचार विमर्श, सहयोग और सद्‌इच्छा होनी चाहिये।"

—स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री

मिश्रित अर्थ व्यवस्था का प्रादुर्भाव—सामन्तवाद की समाप्ति के साथ ही पूंजीवादी विचारधारा अपनाई गई है और लोगों ने निःहस्तक्षेप (Laissez Fare) की नीति का समर्थन किया। उस समय प्रत्येक व्यक्ति और संस्था को पूरी आर्थिक स्वतन्त्रता थी और सरकार आर्थिक क्रियाओं में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी। इसका कारण उन दिनों अर्थशास्त्रियों में प्रचलित यह विश्वास था कि स्वहित से प्रेरित व्यक्ति के कार्यों से अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ (Adam Smith) का विचार था कि "वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो कम से कम शासन करती है।" (That Government is best which *Governs the least*) उनका विश्वास था कि आर्थिक स्वतन्त्रता ही समस्त आर्थिक उन्नति का आधार है। इस विचारधारा के फलस्वरूप पूंजीवाद को बल मिला जिससे बहुत

आर्थिक प्रगति और उत्पादन में वृद्धि हुई। किन्तु शीघ्र ही पूंजीवाद और आर्थिक क्रियाओं में सरकार द्वारा हस्तक्षेप नहीं करने की नीति के दोष प्रकट होने लगे। गला काट प्रतियोगिता, आर्थिक उतार चढ़ाव और आर्थिक विषमता के कारण एक देश के बाद दूसरे देश में स्वतन्त्र उपक्रम और विशुद्ध पूंजीवाद के प्रति विश्वास उठने लगा। इस प्रकार पूंजीवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ।

- समाजवादी अर्थ व्यवस्था में पूंजीवाद की कमियों को तो दूर किया गया किन्तु उसके गुणों को कोई महत्व नहीं दिया गया जिससे समाजवादी अर्थ व्यवस्था भी दोष रहित साबित नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त विभिन्न विचारकों ने समाजवाद के विभिन्न स्वरूपों को विकसित किया और इनमें कौनसा रूप सबसे उपयुक्त और ग्रहण करने योग्य है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न बन गया। परिणाम स्वरूप समाजवादी और पूंजीवादी दोनों व्यवस्थाओं की अच्छाइयों को ग्रहण करते हुए एक ऐसी समन्वयकारी अर्थ व्यवस्था का विकास हुआ जिसमें स्वतन्त्र उपक्रम (Free Enterprise) तथा सरकारी नियन्त्रण के मिश्रण तथा सहअस्तित्व द्वारा दोनों के दोषों से बचा जा सके। ऐसी आर्थिक प्रणाली को ही मिश्रित अर्थ व्यवस्था कहते हैं। आजकल अधिकांश देशों में यही व्यवस्था स्थापित है।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Mixed Economy)

मिश्रित अर्थ व्यवस्था एक ऐसी अर्थ व्यवस्था है जिसमें निजी क्षेत्र (Private Sector) और सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) दोनों का सहअस्तित्व होता है जिसमें एक ओर पूंजीवाद की आर्थिक स्वतंत्रता होती है तो दूसरी ओर समाजवाद के समान आर्थिक क्रियाओं पर सरकार का नियंत्रण भी होता है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था में निजी उद्योग और सरकारी अर्थात सार्वजनिक उद्योग साथ-साथ कार्य करते हैं। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में जहाँ व्यक्तियों को उत्पादन करने की इजाजत होती है वहाँ उनकी इन क्रियाओं पर सरकार द्वारा नियंत्रण, नियमन

और निर्देशन होता है तथा साथ ही स्वयं सरकार भी उत्पन्न में भागीदार बनती है और उद्योग स्थापित करती है। इस प्रकार मिश्रित अर्थ व्यवस्था समाजवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं के बीच का एक समन्वयकारी मार्ग है जिसमें दोनों के ही दोषों से बचते हुए दोनों के लाभों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें न तो उपक्रम की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है और न उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है। निजी साहसी और सरकार उत्पादन और आर्थिक क्रियाओं में इस प्रकार सम्मिलित होते हैं कि देश का तीव्र आर्थिक विकास हो और अधिकाधिक समाजिक हित और आर्थिक कल्याण हो। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में राज्य का अर्थ व्यवस्था पर योजनाबद्ध नियंत्रण होता है। प्रो. हेन्सन (Prof. Hansen) ने इसे "द्विक अर्थ-व्यवस्था" (Dual Economy) और प्रो. लर्नर (Prof. Lerner) ने इसे *"नियंत्रित अर्थ व्यवस्था"* (Controlled Economy) कहा है।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था की विशेषतायें (Characteristics of Mixed Economy)—

मिश्रित अर्थ व्यवस्था के अर्थ को पूर्णरूप से समझने के लिए उसकी विशेषताओं की जानकारी अधिक उपादेय होगी। प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं—

(1) *अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों का सह-अस्तित्व* (Co-existence of different Sectors) इस प्रकार की आर्थिक प्रणाली में अर्थ व्यवस्था को सार्वजनिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र और संयुक्त क्षेत्र आदि विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है और सभी क्षेत्र साथ-साथ रहकर सहयोग से देश की आर्थिक प्रगति के हेतु कार्य करते हैं। सामान्यतया: इन सभी क्षेत्रों का अलग-अलग कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है जिनमें इन्हें उत्पादन करने, उद्योग स्थापित करने और विकास करने का अवसर मिलता है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था में निम्न क्षेत्रों का सह-अस्तित्व होता है—

(अ) *सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)*— सार्वजनिक या सरकारी

क्षेत्र से आशय अर्थ व्यवस्था के उस अंग से है जिसमे देश के उत्पादन और वितरण का प्रबन्ध, अर्थ प्रबन्धन और स्वामित्व सरकार के हाथ में होता है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले कारखाने, उद्योग, उपक्रम या व्यवसाय पूर्णतया सरकार के हाथ में रहते हैं जिन्हे सार्वजनिक उपक्रम कहते हैं। इनके प्रारम्भ तथा विकास के लिए सरकार ही उत्तरदायी होती है। सार्वजनिक क्षेत्र में प्रायः सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग, परिवहन और संचार उद्योग, तथा लोहा और इस्पात, कोयला, खनिज तेल आदि आधार भूत उद्योग रखे जाते हैं। लोकोपयोगी सेवायें (Public Utility Services) जैसे नल, बिजली आदि तथा ऐसे उपक्रम जिनमे अधिक पूंजी लगती है और प्रतिफल कम या देर से प्राप्त होता है जैसे बड़े-बड़े बांधों का निर्माण आदि भी सार्वजनिक क्षेत्र मे ही रखे जाते हैं। भारत में सुरक्षा सामग्री का निर्माण, अणुशक्ति का उत्पादन, रेलें, डाकतार, प्रसारण, विद्युत उत्पादन आदि सार्वजनिक क्षेत्र मे लिये जाते हैं। सन् 1948 की औद्योगिक नीति के अनुसार लोहा और इस्पात, कोयला, हवाई जहाज का निर्माण, जलयान निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ, व वायरलेस के यंत्रों का निर्माण और खनिज तेल का उत्पादन आदि की नई इकाइयों की स्थापना के लिए केवल सरकार को ही उत्तरदायी बनाया गया था। सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों को निजी लाभ की अपेक्षा सामाजिक कल्याण की दृष्टि से संचालित किया जाता है। इन उद्योगो का लाभ सरकार को मिलता है जिसका उपयोग वह जनता के लिए करती है। इस प्रकार उपभोक्ताओं का शोषण कम होता है और आर्थिक समानता लाने मे सहयोग मिलता है। अतः सार्वजनिक क्षेत्र के अधीन उद्योगो की स्थापित किया जा रहा है जिन्हे सार्वजनिक उपक्रम कहते हैं। इन सार्वजनिक उपक्रमों के पक्ष और विपक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

पक्ष में तर्कः—

(i) कुशलता में वृद्धिः—राजकीय उद्योगों और में समान वेतन पर अच्छे और कुशल कर्मचारी प्राप्त

क्योंकि सरकारी नौकरी अधिक सुरक्षित, सम्मानप्रद और कार्य दशाओं के दृष्टिकोण से अधिक अच्छी होती है।

(ii) सामाजिक कल्याण में वृद्धि:—राजकीय उद्योगों का मुख्य उद्देश्य लाभ प्राप्त करना न होकर सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है और अधिकतम सामाजिक संतुष्टि का प्रयत्न किया जाता है।

(iii) धन का समान वितरण:—इसमें उत्पादन के लाभ थोड़े से निजी उद्योगपतियों के हाथ में न जाकर सरकार को प्राप्त होता है जिसका उपयोग निर्धन व्यक्तियों के और समाज के लाभ के लिए व्यय किया जाता है जिससे धन का समान वितरण होता है।

(iv) उपभोक्ताओं और श्रमिकों के शोषण का अभाव:—राजकीय उद्योगों द्वारा अधिक मूल्य और खराब वस्तुओं को बेचकर उपभोक्ताओं का शोषण नहीं किया जाता। इसी प्रकार श्रमिकों को कम वेतन देकर या अधिक कार्य कराकर उनके भी शोषण की संभावनायें समाप्त होजाती हैं क्योंकि ऐसा करने से होने वाला लाभ किसी एक व्यक्ति की जेब में नहीं जाता।

(v) नवीनतम मशीनों और तकनीक का उपयोग:—व्यक्ति के साधन सीमित होते हैं किन्तु सरकार के साधन अधिक होने के कारण उत्पादन में नवीनतम मशीनों और तकनीक का उपयोग करके उत्पादन कुशलता को बढ़ाया जा सकता है।

(vi) शोध और अनुसंधान की दृष्टि से भी सार्वजनिक उपक्रम निजी उपक्रमों की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति में होते हैं।

(vii) सुरक्षा उद्योगों के लिए महत्त्व:—इन उद्योगों का देश की शाँति और सुरक्षा की दृष्टि से अधिक महत्त्व होने के कारण व्यक्तिगत उत्पादकों को सौंप कर इन्हें अनिश्चित नहीं बनाया जा सकता। इन्हें लाभ के उद्देश्य से भी संगठित नहीं किया जा सकता। इनकी कार्य विधि उत्पादन क्षमता, उत्पादित सामान को भी सुरक्षा की दृष्टि से गोपनीय रखना होता है। इन सब कारणों से सुरक्षा उद्योगों का संचालन तो सार्वजनिक क्षेत्र में ही किया जाना चाहिए।

(viii) जनोपयोगी सेवाओं के लिए आवश्यक—बिजली, पानी, परिवहन, तार आदि सेवाओं को तो सार्वजनिक क्षेत्र में ही चलाना आवश्यक है क्योंकि इनकी प्रवृत्ति एकाधिकारी होती हैं। निजी क्षेत्र में इन्हें देने से शोषण बढ़ता है। सार्वजनिक क्षेत्र में इनके एकीकृत संचालन से मितव्ययिता और कुशलता बढ़ती है।

(ix) कम लागत पर अच्छी सेवा—सरकार की साख (Credit) अच्छी होने के कारण पूंजी, कच्चामाल, व्यवसायिक बुद्धि, श्रम आदि शीघ्र, पर्याप्त मात्रा में और सस्ती दर पर मिल जाते हैं। राष्ट्रीयकृत (Nationalised) उद्योगों में प्रतिस्पर्धा पर आधारित आर्थिक व्यय समाप्त हो जाते हैं। परिणाम स्वरूप सार्वजनिक उपक्रम सस्ते मूल्य पर शीघ्र और अच्छी सेवायें कर पाते हैं।

(x) अन्य लाभ—सरकारी उपक्रमों में श्रमिकों के हितों का ध्यान रखे जाने के कारण औद्योगिक संघर्ष उत्पन्न नहीं होते। वस्तुओं और सेवाओं की मांग और पूर्ति में समायोजन रहता है।

सरकारी उपक्रमों को हानियाँ—

(i) प्रबन्ध कुशलता का निम्न स्तर—सरकारी उद्योगों में लाल फीताशाही (Red Tapism) होता है और कार्य धीरे और पूर्व निर्धारित ढंग से चलता है। शीघ्र निर्णय नहीं हो पाता जो कि उद्योग और व्यवसाय के लिए आवश्यक है। इसके कारण सरकारी उपक्रमों में प्रबन्ध कुशलता का निम्न स्तर होता है।

(ii) प्रेरणा की कमी—निजी उपक्रमों की भांति इनमें प्रबन्धकों और अन्य कार्यकर्त्ताओं की उन्नति उनकी कुशलता और परिश्रम के आधार पर नहीं होती उनकी उन्नति, वेतन वृद्धि आदि पूर्व निश्चित नियमों के अनुसार सबके लिए समान रूप से होती है। अत: कर्मचारियों में पहल करने और जोखिम उठाने के लिए कोई उत्साह नहीं होता।

(iii) विशाल एकाधिकार की प्रवृत्ति—निजी उपक्रमों में प्रतियोगिता होने के कारण वही फर्म जीवित रहती है जो सर्वाधिक कुशल हो। किन्तु राष्ट्रीकृत उद्योगों में इस प्रकार का डर नहीं रहता।

सार्वजनिक उपक्रम कई दशाओं में विशाल एकाधिकार का स्वरूप धारण कर लेते हैं उनके सामने उपभोक्ता असहाय रहते हैं।

(iv) राजनीतिक आधार पर संचालन—इसमें कर्मचारियों की नियुक्ति योग्यता की अपेक्षा राजनीतिक आधार पर होती है। इन उद्योगों के उच्चतम अधिकारी जनता द्वारा निर्वाचित संसद के प्रति उत्तरदायी मंत्री के अधीन कार्य करते हैं। अतः इन उपक्रमों का संचालन विशुद्ध आर्थिक आधार पर न होकर राजनीतिक आधार पर होता है जो आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त है।

(v) मूल्य निर्धारण सम्बन्धी कठिनाई—राजकीय उद्योगों की वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य मनमाना होता है और मूल्य निर्धारण की कोई निश्चित विधि नहीं होती। वास्तव में यह समस्या सदैव बनी रहती है कि इन्हें "न लाभ और न हानि" (No Profit and no loss basis) पर चलाया जाय या लाभ के आधार पर और यदि लाभ के आधार पर चलाया जाय तो लाभ की दर क्या हो।

(ब) निजी क्षेत्र (Private Sector)—निजी क्षेत्र से आशय अर्थ व्यवस्था के उस अंग से है जिसमें उत्पादन का प्रबन्ध, अर्थ प्रबन्धन और स्वामित्व निजी उद्योग-पतियों के हाथ में होता है। इस क्षेत्र के उद्योगों ...की स्थापना, संगठन विक... ...स्वामित्व का कार्य पूर्ण ... ...क्तियों पर छोड़ दिया ... उन्हें सरकार की व्य... ...के अंतर्गत कार्य ... ...य शब्द में सरका... ...अप्रत्य... रूप से ... ...हैं इस क्षेत्र...

मिश्रित अर्थ व्यवस्था की विशेषतायें

1. अर्थ व्यवस्था में निम्न क्षेत्रों का सह अस्तित्व—
   (अ) सार्वजनिक क्षेत्र
   ...नजी क्षेत्र
   ...क्षेत्र
   ...क्षेत्र
   ...याण का

सीमेन्ट, कागज, औषधि, बिस्कुट, आदि उपभोग वस्तुओं के उद्योग (Consumer good's Industries) रखे जाते हैं। सरकार समय-समय पर इनका मार्गदर्शन करती और सहायता देती है। भारत में सूती वस्त्र, जूट, चीनी, दियासलाई आदि निजी क्षेत्र में हैं।

(ग) संयुक्त क्षेत्र या सम्मिलित क्षेत्र (Joint or Public-cum Private Sector)—यह वह क्षेत्र है जिसमें सरकार एवं निजी व्यक्ति दोनों ही उद्योग प्रारम्भ कर सकते हैं। संयुक्त क्षेत्र का आशय उन उद्योगों से भी है जिनका सरकार और निजी उद्योगपति दोनों संयुक्त रूप से संचालन करते हैं। सरकार और निजी व्यक्ति सम्मिलित रूप में उद्योगों की स्थापना, प्रबन्ध और विकास करते हैं और उद्योगों के स्वामी होते हैं। पूंजी सरकार और उद्योगपतियों द्वारा सम्मिलित रूप से जुटाई जाती है किन्तु प्रायः अंश पूंजी में अधिकांश भाग सरकार का होता है। संयुक्त क्षेत्र के द्वारा सरकार प्राइवेट उद्योगपतियों और साहसियों की कुशलता और अनुभव का उपयोग देश के आर्थिक विकास के लिए करती है।

(घ) सहकारी क्षेत्र (Co-operative Sector)—इसके अतिरिक्त मिश्रित अर्थ व्यवस्था में सहकारिता को प्रोत्साहित किया जाता है सहकारी क्षेत्र में वे उद्योग आते हैं जो सहकारी समितियों द्वारा संचालित किये जाते हैं। इस क्षेत्र में प्रायः छोटे पैमाने के उपभोक्ता उद्योग होते हैं। भारत में सहकारी क्षेत्र का विस्तार हो रहा है। कई बड़ी बड़ी चीनी मिलें भी सहकारी क्षेत्र में स्थापित की जा रही हैं।

अर्थ व्यवस्था के उपरोक्त विभाजन में देश विदेश की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। इस अर्थ व्यवस्था में सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के बीच कोई निश्चित अनुपात नहीं होता है।

(2) लाभ और सामाजिक कल्याण का उद्देश्य (Profit and Welfare Motive)—मिश्रित अर्थ व्यवस्था में भी लाभ उद्देश्य होता है और वही साधनों के वितरण को निर्धारित करता है।

पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य नहीं करने दिया जाता है। पूंजीवाद में लाभ उद्देश्य होता है और समाजवाद में उसे पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाता है किन्तु मिश्रित अर्थ व्यवस्था में लाभ उद्देश्य को केवल उस सीमा तक काम करने दिया जाता है जहां तक उसे आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से तर्क संगत समझा जाता है।

(3) मूल्य यन्त्र (Price Mechanism)—मिश्रित अर्थ व्यवस्था में कीमत प्रणाली उसी प्रकार चलती रहती है जैसी कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में और मांग के अनुसार ही उत्पत्ति की जाती है। किन्तु भाँति भाँति का मूल्य नियन्त्रण होता है और उद्योगों की प्राथमिकतायें निश्चित करदी जाती हैं।

(4) आर्थिक नियोजन (Economic Planning)—मिश्रित अर्थ व्यवस्था एक नियोजित अर्थ व्यवस्था होती है। इसमें राज्य द्वारा नागरिकों और देश के आर्थिक जीवन को एक योजना बनाकर नियंत्रित किया जाता है। अर्थ व्यवस्था के अधिकांश क्षेत्रों में राज्य का हस्त-क्षेप होता है। यद्यपि पूंजावाद और स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली में भी राजकीय हस्तक्षेप हो सकता है फिर भी हम उसे मिश्रित अर्थ व्यवस्था इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि उसमें यह हस्तक्षेप समन्वित और निश्चित योजना के अनुसार नहीं होता है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था में विभिन्न क्षेत्र मिल कर एक योजना के अनुसार कार्य करते हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मिश्रित अर्थ व्यवस्था में पूंजीवाद और समाजवाद, अन्य शब्दों में निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र का सह-अस्तित्व होता है। किन्तु यहां यह वात ध्यान रखने की है कि निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों का सह-अस्तित्व समाजवाद और पूंजीवाद क्षेत्रों में पाया जाता है। अन्तर यह होता है कि समाजवाद में सार्वजनिक क्षेत्र अधिक मात्रा में और निजी क्षेत्र सीमित मात्रा में होता है। इसके विपरीत पूंजीवाद में सार्वजनिक क्षेत्र कम मात्रा में

और निजी क्षेत्र अधिक मात्रा में होता है। परन्तु मिश्रित अर्थ व्यवस्था में सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्र पर्याप्त मात्रा में होते हैं।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था के लाभ (Advantages of Mixed Economy)

मिश्रित अर्थ व्यवस्था में पूंजीवाद तथा समाजवाद का एक सीमा तक सम्मिश्रण होता है। परिणाम स्वरूप इसमें पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के लाभ प्राप्त होते हैं। मिश्रित अर्थ व्यवस्था के मुख्य लाभ निम्न लिखित हैं—

(1) अधिक उत्पादन की प्रेरणा (Inspiration for more Producton)—मिश्रित अर्थ व्यवस्था में निजी सम्पत्ति, लाभ, उद्देश्य और उत्तराधिकार आदि संस्थाएँ व्यक्तियों को अधिक उत्पादन करके धन कमाने की प्रेरणा देती हैं। इनके कारण साहसियों और उत्पादन को कड़ी मेहनत, कुशलता वृद्धि तथा मितव्ययिता करने और नई से नई जोखिम उठा कर उद्योग प्रारम्भ करने की प्रेरणा मिलती है। इसके साथ ही साथ निजी सम्पत्ति, लाभ उद्देश्य आदि के शोषणात्मक पहलू को सरकार नियन्त्रण द्वारा कम कर देती है। इसमें लाभ और कल्याण उद्देश्य का समन्वय होता है।

(2) कुशलता और मितव्ययिता (Efficiency and Economy) मिश्रित अर्थ व्यवस्था के निजी क्षेत्र में प्रतियोगिता रही है अतः प्रत्येक उत्पादक सस्ते से सस्ता और अच्छे से अच्छा माल तैयार करता है। इसके साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र दोनों में भी कुछ सीमा तक प्रतियोगिता रहती है जिससे प्रत्येक क्षेत्र अधिक से अधिक कुशलतापूर्वक और मितव्ययिता पूर्वक उत्पादन करने का प्रयत्न करता है।

(3) पर्याप्त स्वतन्त्रता (Adequate Freedom)—व्यक्तियों को व्यवसाय चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। यद्यपि सरकार अप्रत्यक्ष रूप से कुछ व्यवसायों को अधिक प्रोत्साहित करती है। इसी प्रकार उपभोक्ताओं को अपनी आय इच्छानुसार व्यय करने अपनी सम्पत्ति के उपयोग की पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है।

अपव्ययपूर्ण व्यय को अप्रत्यक्ष रूप से रोकने का प्रयत्न करती है। इस प्रणाली में व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है।

(4) **साधनों का कुशलतम उपयोग** (Efficient use of resources)—इस अर्थ व्यवस्था में सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था आर्थिक नियोजन द्वारा संचालित होती है। साधनों का देश की आवश्यकताओं और सामाजिक हित के दृष्टिकोण से एक निश्चित योजना के अनुसार प्राथमिकता की दृष्टि से उपयोग किया जाता है। इससे आर्थिक कार्यों में दोहराव नहीं होता और उत्पत्ति के साधनों का कुशलतम, अधिकतम व सन्तुलित उपयोग होता है। इससे तीव्र आर्थिक विकास को गति मिलती है।

(5) **लोचपूर्ण (Elastic) व्यवस्था**—यह उत्पादन प्रणाली लोचपूर्ण होती है। देश की आवश्यकता और सुविधानुसार निजी और सार्वजनिक क्षेत्र की सीमा को घटा बढ़ा कर अर्थ व्यवस्था को परिस्थितियों के अनुसार बनाया जा सकता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के लाभ
1. अधिक उत्पादन की प्रेरणा
2. कुशलता और मितव्ययिता
3. पर्याप्त स्वतन्त्रता
4. साधनों का कुशलतम उपयोग
5. लोचपूर्ण व्यवस्था
6. आर्थिक विषमता में कमी
7. व्यापार चक्रों की रोक
8. सामाजिक कल्याण
9. पूंजी और प्रबन्ध की समस्या का हल

(6) **आर्थिक विषमता में कमी** (Reduction of Economic inequalities)—सरकार प्रगतिशील कर प्रणाली (Progressive Taxation) द्वारा और सामाजिक बीमा योजनाओं द्वारा धन के वितरण में अधिक समानता लाती है। सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का संचालन किया जाता है जिससे इनका लाभ जो इनके निजी क्षेत्र में होने पर निज़ी

उद्योगपतियों को मिलता अब सरकार को मिलने लगता है जिसका उपयोग वह अधिकांश निर्धन जनता के हित के लिये करती है। इससे एक ओर जहाँ धन का थोड़े से धनिको के हाथों में ही केन्द्रीयकरण रुकता है वहाँ निर्धन व्यक्तियों की आर्थिक दशा सुधरती है। अनार्जित आय को कम कर दिया जाता है। इस प्रकार आर्थिक विषमता में कमी होती है।

(7) व्यापार चक्रों की रोक (Check on trade cycles) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में ब्याज की दर, विनियोजन और रोजगार में नियोजन के द्वारा सामंजस्य स्थापित करके व्यापार चक्रो को रोक दिया जाता है। साथ ही पूर्ण रोजगार की स्थापना में योग मिलता है।

(8) सामाजिक कल्याण (Social Welfare)—मिश्रित अर्थ व्यवस्था में एक बहुत बड़े क्षेत्र में उत्पादन सरकार द्वारा किया जाता है जिसका उद्देश्य लाभ नही होकर समाज का हित होता है। निजी क्षेत्र में भी एकाधिकारी शक्तियों पर रोक लगाई जाती है ताकि उपभोक्ता वर्ग शोषण से बच सके। वितरण पर सरकार का सक्रिय नियंत्रण रहता है जिससे कृत्रिम अभावों के द्वारा उपभोक्ताओं की शोषण से भी रक्षा होती है। इसी प्रकार सरकार श्रमिकों की भी शोषण से रक्षा करती है।

(9) पूँजी और प्रबन्ध की समस्या का हल (Solution of the problem of Capital and Management) अविकसित और अर्ध विकसित राष्ट्रों के विकास के लिये भारी मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होती है। अकेले सरकार या पूंजीपतियो के लिए इसका प्रबन्ध करना बड़ा मुश्किल है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था में दोनो मिलकर पूंजी की आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते हैं। सरकारो के पास उद्योगो के संचालन के लिये प्रबन्ध और संचालन संबंधी साधनों की कमी रहती है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था में निजी क्षेत्र के लोगों का सहयोग प्राप्त करके इस समस्या का हल निकाल लिया जाता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में धन से अधिक महत्व मानवीय आवश्यकताओं और सामाजिक कल्याण को दिया जाता है। यह सभी नागरिकों को उन्नति के अवसर प्रदान करती है तथा उनमें स्वतन्त्रता समानता और भ्रातृभाव का विकास करती है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के दोष (Disadvantages of Mixed Economy)

(अ) समाजवादी आलोचना का पक्ष

1. समाजवादी इसकी इसलिए आलोचना करते हैं क्योंकि यह व्यवस्था एक अत्यन्त निर्बल नीति की होती है जो प्रगति को रोकती है। इससे न सरकारी और न निजी क्षेत्र का ही विकास हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है व्यक्ति दो घोड़ों पर पैर रखे खड़ा है।

2. यह व्यवस्था पूंजीपतियों के प्रति सहानुभूति रखती है और उनकी समाप्ति के स्थान पर उनका पोषण करती है।

3. इस व्यवस्था में लोगों में पूर्ण चेतना तथा उत्तरदायित्व का अभाव रहता है और शोषित व्यक्तियों का शोषण होता ही रहता है।

4. यह व्यवस्था प्रतिक्रियावादी है।

(ब) पूंजीवादी आलोचकों का मत

1. सरकार की इस नीति में राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) अर्थात् किसी भी उद्योग को सरकार द्वारा अपने स्वामित्व और प्रबन्ध में कर लेने का भय पूंजी का निसंकोच विनियोग और उद्योगों के विकास और उनकी स्थापना को हतोत्साहित करता है।

2. पूंजी, प्रबन्ध और साहस के अभाव में देश के विकास में बाधा पहुँचती है।

3. निजी क्षेत्र की उपेक्षा होती है। इस उपेक्षा के कारण संतुलित विकास में बाधा होती है।

4. सरकारी क्षेत्र की कार्य क्षमता, संचालन पटुता और प्रबन्ध

व्यवस्था का स्तर नीचा होने के कारण उपक्रमों से अधिकतम लाभ नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था की उपरोक्त आलोचना में दोनो पक्ष कुछ सीमा तक सही हैं। इसके अतिरिक्त मिश्रित अर्थ व्यवस्था के मुख्य दोष कुछ निम्न लिखित हैं—

1. कुशल कार्यकरण कठिन है (Efficient operation is difficult) व्यवहार में निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र का साथ-साथ कार्य करना कठिन होता है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था में न तो पूंजीवाद की भांति मूल्य यन्त्र ही पूर्ण रूप से कार्य कर पाता है और न समाजवादी अर्थ व्यवस्था की तरह पूर्ण नियोजन ही सम्भव है। अतः इन दोनो क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करना असम्भव होता है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था की तुलना उस जीर्ण वस्त्र से कर सकते हैं जो कभी एक स्थान से फट जाता है और जब तक वहां से ठीक किया जाता है दूसरे स्थान से फट जाता है। अतः कुछ लोग इसे थेगली लगी हुई व्यवस्था (Patched up Economy) कहते हैं।

> **मिश्रित अर्थ व्यवस्था के दोष**
> (अ) समाजवादी आलोचना का पक्ष
> (ब) पूंजीवादी आलोचना का पक्ष
> (स) सामान्य दोष—
> 1. कुशल कार्यकरण कठिन है
> 2. अल्प जीवी अर्थ व्यवस्था
> 3. लोक तन्त्र की समाप्ति का खतरा

2. अल्पजीवी अर्थ व्यवस्था (Short Lived Economy)— कुछ विचारकों के अनुसार यह व्यवस्था स्थायी रूप धारण नहीं कर सकती। कालांतर में या तो निजी क्षेत्र प्रबल होकर सार्वजनिक क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर देता है। यदि ऐसा होता है तो पूंजीवाद की स्थापना हो जायगी, इसके विपरीत कालान्तर में यदि सार्वजनिक क्षेत्र अधिक प्रबल हो गया तो निजी क्षेत्र सीमित हो जायगा और मिश्रित अर्थव्यवस्था समाजवाद में बदल जायेगी। इस प्रकार मिश्रित अर्थ व्यवस्था का स्थायी रहना कठिन है।

3. लोकतन्त्र की समाप्ति का खतरा (Danger of the End of Democracy)—मिश्रित अर्थ व्यवस्था में धीरे धीरे समाजवादी शक्तियों के प्रबल होने और अर्थ व्यवस्था में राज्य की तानाशाही स्थापित होने का डर रहता है। ऐसी स्थिति में निजी क्षेत्र की समाप्ति और अर्थ व्यवस्था पर राज्य के स्वामित्व तथा नियंत्रण की स्थापना के साथ साथ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जाती है। इस प्रकार मिश्रित अर्थ व्यवस्था में लोक तन्त्र के समाप्त होने का खतरा सदैव बना रहता है। जर्मनी और इटली में ऐसा कुछ हुआ भी है।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था के अनेक लाभ हैं। इसकी आवश्यकताओं में भी सत्यता है। किन्तु नियोजन, उचित नीतियों और सतर्कता द्वारा मिश्रित अर्थ व्यवस्था के दोषों से बचा जा सकता है। यही कारण है कि अधिकांश अविकसित देश मिश्रित अर्थ व्यवस्था को ही अपना रहे हैं ताकि समाजवाद और पूंजीवाद दोनों के लाभ उठाकर देश का तेजी के साथ आर्थिक विकास किया जा सके। भारत भी वर्तमान में मिश्रित अर्थव्यवस्था का अपना रहा है यद्यपि दीर्घकालीन उद्देश्य देश में लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना करना है।

साराँश

मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रादुर्भाव—

पूंजीवाद के दोषों से मुक्ति पाने और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ। समाजवादी अर्थव्यवस्था भी दोष रहित नहीं थी। अतः समाजवाद और पूंजीवाद दोनों की अच्छाइयों को ग्रहण करते हुए एक मिश्रित अर्थ व्यवस्था को अपनाया गया जिसमें दोनों का समन्वय हो।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था का अर्थ—यह एक ऐसी अर्थ व्यवस्था है जिसमें पूंजीवाद और समाजवाद का मिश्रण होता है। जिसमें दोनों के ही दोषों से बचते हुए दोनों के लाभों को प्राप्त करने का प्रयत्न

किया जाता है। इसमें निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों का सह अस्तित्व होता है।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था की विशेषतायें:—(1) अर्थ व्यवस्था में इन क्षेत्रों का सह-अस्तित्व (अ) सार्वजनिक क्षेत्र (ब) निजी क्षेत्र (स) संयुक्त क्षेत्र (द) सहकारी क्षेत्र (2) लाभ और कल्याण का समन्वय (3) मूल्य यन्त्र (4) आर्थिक नियोजन।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के लाभ.—(1) अधिक उत्पादन की प्रेरणा (2) कुशलता और मितव्ययिता (3) पर्याप्त स्वतन्त्रता (4) साधनों का कुशलतम उपयोग (5) लोचपूर्ण अर्थव्यवस्था (6) आर्थिक विषमता में कमी (7) व्यापार चक्रों की रोक (8) सामाजिक कल्याण (9) पूंजी कर और प्रबन्ध की समस्या का हल।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के दोष:—(अ) समाजवादी आलोचना का पक्ष (ब) पूंजीवादी आलोचना का पक्ष (स) सामान्य दोष:— (1) कुशल कार्य-करण कठिन (2) अल्पजीवी अर्थव्यवस्था (3) लोकतन्त्र की समाप्ति का खतरा।

प्रश्न

1. मिश्रित अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं। उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
2. मिश्रित अर्थव्यवस्था के गुण दोषों की विवेचना कीजिये।
3. 'मिश्रित अर्थव्यवस्था पूंजीवाद और समाजवाद का मिश्रण है। इस कथन की विवेचना कीजिये।
4. "मिश्रित अर्थव्यवस्था एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमें पूंजीवाद और समाजवाद के दोषों से बचते हुए दोनों के गुणों का अपनाने का प्रयत्न किया जाता है। इस कथन को समझाइये ?
5. मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषतायें भारत के सदर्भ मे बतलाइये।
6. सार्वजनिक उपक्रम का क्या अर्थ है। इनके पक्ष ... तर्क प्रस्तुत कीजिये।

दाता में कांग्रेस ने सन् 1942 में "अंग्रेजों, भारत छोड़ो" प्रस्ताव रखा। गांधीजी और उनके साथी कई बार जेल गये किन्तु अन्त में भारत 15 अगस्त सन् 1947 को उन्हीं के प्रयत्नों के कारण स्वतन्त्र हो गया। 30 जनवरी, सन् 1948 को उन्हें एक साम्प्रदायिकतावादी की गोली ने चिरनिद्रा में सुला दिया।

गांधीजी के आर्थिक विचारों को प्रभावित करने वाली बातें (Factors influencing Gandhiji)—

गांधीजी के विचारों पर टालस्टाय के दर्शन शास्त्र का प्रभाव पड़ा था। वे थोरो के विचारों से भी प्रभावित थे। किन्तु उन पर अधिक प्रभाव रस्किन (Ruskin) और उनकी पुस्तक "Unto The Last" का पड़ा है जिन्होंने तत्कालीन अर्थ व्यवस्था की आलोचना करते हुए अर्थशास्त्र को अन्धकारमय विज्ञान (dismal Science) बतलाया था। रस्किन की तरह वे भी अर्थशास्त्र का उद्देश्य धन की वृद्धि करना नहीं अपितु मानव कल्याण में वृद्धि मानते थे। राजकुमार क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादियों के विचारों ने भी राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध उनके विचारों को बल दिया था। कबीर और नानक के विचारों, रामायण, महाभारत और गीता जैसी पुस्तकों और उनकी माता का प्रभाव भी उन पर पड़ा था। साथ ही देश की तत्कालीन परिस्थितियों ने भी गांधीजी को बहुत अधिक प्रभावित किया था। देश की निर्धनता, बेकारी असमानता, जांत-पांत का भेदभाव, आवश्यकता आदि समस्याओं ने गांधीजी को सुधार करने की प्रेरणा दी। अत्यधिक निर्धनता और बेकारी से प्रभावित होकर ही उन्होंने इन समस्याओं के समाधान के रूप में कुटीर और ग्रामीण उद्योगों के विकास, स्वदेशी और खादी के विकास का प्रयत्न किया।

गाँधीजी के मुख्य आर्थिक विचार (Economic ideas of Gandhiji)—

जैसाकि ऊपर बताया गया है गाँधीजी ने अर्थशास्त्र की कोई पुस्तक नहीं लिखी किन्तु अपने राजनीतिक जीवन में समय समय पर आर्थिक विषयों पर भी विचार प्रकट किये हैं जिन्हें गाँधीवादी अर्थशास्त्र कहते हैं। गाँधीजी के प्रमुख आर्थिक विचारों का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(1) मानव कल्याण को अधिक महत्व (More Importance to Human Welfare)—गांधी जी के मतानुसार नैतिकता ही सब आर्थिक क्रियाओं का आधार होना चाहिए। उनकी दृष्टि में अर्थशास्त्र को नैतिकता से अलग नहीं किया जा सकता। गांधी जी के मतानुसार अर्थशास्त्र में भौतिक साधनों का नहीं अपितु मानव कल्याण का अध्ययन किया जाता है। यह मानव कल्याण की वृद्धि के लिये सुझाव प्रस्तुत करता है। उन्होंने मानव मूल्यों(Human Values) पर अधिक बल दिया और मानव सम्बन्धों के भौतिक आधार की आलोचना की। पश्चात्य विचारकों के अनुसार भौतिक साधनों की अधिकाधिक प्राप्ति से ही अधिकतम सुख मिलता है किन्तु गांधी जी का विचार था कि सुख भौतिक साधनों की प्राप्ति में निहित नहीं है अपितु आध्यात्मिक उन्नति सुख का साधन है। गांधीजी सादा जीवन और उच्च विचार के पक्षपाती थे क्योंकि अधिक आवश्यकताएं होने पर उनके पूरी न होने पर मनुष्य को मानसिक वेदना होती है। गांधी जी का यह विचार था कि आर्थिक समस्याओं का अध्ययन भी नैतिक दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये।

(2) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)—गांधी जी राजनीतिक स्वतन्त्रता की तरह आर्थिक स्वतन्त्रता को भी आवश्यक मानते थे। बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के राजनैतिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं। वह व्यक्ति को आर्थिक स्वतन्त्रता इसलिए देना चाहते थे ताकि कोई भी व्यक्ति किसी का शोषण नहीं कर सके और किसी व्यक्ति को विवश करके काम नहीं कराया जाय। गांधी जी का मत था कि यदि मिल मालिकों और श्रमिकों में झगड़ा हो जाय तब भी दोनों पक्षों को स्वयं ही निबटा लेना चाहिए। सरकार को इसमें भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार गांधी जी आर्थिक स्वतन्त्रता और सरकार द्वारा कम से कम हस्तक्षेप या नियन्त्रण के पक्षपाती थे। राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को वे भय की दृष्टि से देखते थे।

(3) आत्म निर्भरता (Self Sufficiency)—महात्मा गांधी का कथन है कि भारतीय आत्मा गांवों में निवास करती है। गांव भारत

महात्मा गाँधी के प्रमुख आर्थिक विचार

1. मानव कल्याण का आर्थिक महत्त्व
2. आर्थिक स्वतन्त्रता
3. आत्म निर्भरता
4. विकेन्द्रीयकरण
5. धरोहर वृत्ति
6. यन्त्रों का उपयोग
7. श्रम का सम्मान
8. वर्ण व्यवस्था
9. जनसंख्या
10. वितरण और राजस्व सम्बन्धी विचार
11. कृषि सम्बन्धी विचार

की जान है। गांवों की उन्नति भारत की उन्नति है। अतः उनका कहना था कि गांव को आत्म निर्भर होना चाहिए। अन्य शब्दों में गाँवों में वे सब वस्तुएं उत्पन्न की जानी चाहिए जितनी वहाँ आवश्यक हों। उन्होंने बतलाया कि ग्रामवासियों को मुख्य रूप से दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है खाद्यान्न और वस्त्र। गाँवों में खाद्यान्न तो उत्पन्न किया ही जाता है लेकिन वस्त्र उत्पादन भी गाँवों में किया जाना चाहिए। सूत कातना चाहिए और खादी के वस्त्र बुने जाने चाहिए। इससे वस्त्र का उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ किसानों को रोजगार मिलेगा और उनकी आय बढ़ेगी। उन्होंने खादी और चरखे का खूब प्रचार किया।

(4) विकेन्द्रीयकरण (Decentralisation) गाँधी जी केन्द्रीयकरण के विरोधी थे। उनका विश्वास था कि केन्द्रीयकरण बिना शक्ति के प्रयोग के नहीं चल सकता है। केन्द्रीयकरण का अर्थ है एक ही प्रकार के उद्योगों की बड़ी संख्या में एक ही स्थान पर स्थापना हो जाना और बड़े पैमाने पर उत्पादन करना। इससे कई दोषों को जन्म मिलता है। अतः गांधी जी का मत था कि उद्योगों को छोटे पैमाने पर और विकेन्द्रित रूप में चलाना चाहिए। वे चाहते थे कि प्रत्येक गांव में कुटीर उद्योग धन्धों का विकास हो और उत्पादन छोटी-छोटी इकाइयों के द्वारा किया जाय जिससे गांवों की बेकारी और निर्धनता दूर हो और धन के समान वितरण में सहायता मिले।

(5) **धरोहर वृत्ति (Trusteeship)**—गांधी जी ने धरोहर वृत्ति का एक नवीन विचार दिया है। गांधी जी निजी सम्पत्ति के विरोधी नहीं थे। समाजवादियों के विपरीत उनका मत था कि निजी सम्पत्ति के दोष मौलिक नहीं हैं और उन्हें आसानी से दूर किया जा सकता है। उन्होंने निजी सम्पत्ति को समाप्त करने की बात नहीं कही। क्योंकि ऐसा करना अहिंसा के आदर्श के विपरीत होता। किन्तु उन्होंने समस्या के समाधान के लिए यह सुझाव दिया है कि सम्पत्ति के स्वामी यह समझें कि सम्पत्ति उनकी नहीं है बल्कि यह देश और समाज की है। वे तो इस सम्पत्ति के रक्षक या न्यासधारी (Trustee) हैं। उन्हें उसका उपयोग सामाजिक हितों की दृष्टि से करना चाहिए। गांधी जी के ट्रस्टी-शिप के विचार के अनुसार समाज की कुल सम्पत्ति सब की सम्पत्ति होगी और सम्पत्ति स्वामी केवल इसके न्यासधारी या रक्षक होंगे। धन का वह भाग जिसे पूंजीपति अपने व्यक्तिगत व्यय के लिए आवश्यक नहीं समझते उसे समाज के हित के लिए प्रयोग में लाया जाय। इससे श्रमिक और पूंजीपतियों में सद्भाव बढ़ेगा और वर्ग संघर्ष समाप्त हो जायेंगे।

(6) **यन्त्रों का प्रयोग (Use of Machines)**—गांधी जी आधुनिक तकनीकी सभ्यता को निराशा, हिंसा और युद्ध के लिए उत्तरदायी समझते थे। उन्होंने यंत्रों की हानियों का वर्णन करते हुए कुटीर उद्योगों के द्वारा छोटे पैमाने पर उत्पादन का समर्थन किया है। उनका मत था कि मशीनें बेकारी को जन्म देती है अतः इनका प्रयोग कम से कम किया जाना चाहिए किन्तु मशीनों के बिल्कुल विरुद्ध नहीं थे। वे तो चाहते थे कि जो काम मानव के द्वारा किया जा सकता हो वह शक्ति चालित यन्त्रों से नहीं किया जाय। उनका कहना था कि मशीनों का उपयोग उसी दशा मे किया जाय जब कि मानवीय शक्ति द्वारा उत्पादन मांग से कम हो या इससे बेकारी को जन्म नहीं मिले। वे आवश्यकतानुसार मशीनों के प्रयोग के पक्ष में भी थे। यदि इनका स्वामित्व सरकार या समाज के हाथों में हो। यन्त्रों के उपयोग के

बारे में महात्मा गांधी ने लिखा है "यन्त्र उस समय उपयगी सिद्धो होते हैं जब काम करने वाले थोड़े हों, किन्तु यदि काम करने वालों की संख्या भारतीयों की तरह अधिक हो तो ये दोष उत्पन्न करते हैं।"

7. श्रम का सम्मान (Dignity of labour)—महात्मा गांधी शारीरिक श्रम को भी अत्यन्त महत्व देते थे क्योंकि गांधी जी के मत में शारीरिक श्रम मानसिक विकास करता है। इसके अतिरिक्त उनकी मान्यता थी कि जो व्यक्ति शारीरिक श्रम नहीं करता उसे जीवित रहने का अधिकार भी नहीं है। वे सभी प्रकार के श्रम को समान महत्व देते थे। वे बहुधा कहा करते थे कि कोई भी कार्य (श्रम) बुरा नहीं है। वे स्वयं नियमित रूप से शारीरिक श्रम करते थे।

8. वर्णव्यवस्था (Varna Vyavastha):—गांधीजी ने बताया कि वर्ण व्यवस्था का आधार तो श्रम विभाजन है। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह किस व्यवसाय को करना चाहता है। अगर कोई व्यक्ति वैश्य के यहाँ उत्पन्न हुआ है तो यह आवश्यक नहीं हैं कि उसे वैश्य का ही कार्य करना पड़ेगा। वह चाहे तो इस कार्य को छोड़कर अन्य कार्य को अपना सकता है किन्तु इस कार्य को छोड़ कर दूसरे को अपनाने का उद्देश्य धन कमाने का लालच और स्वार्थ न होकर सेवा भाव होना चाहिए। सेवा भाव के लिए ही व्यवसाय परिवर्तन करने की आज्ञा दी जानी चाहिए।

9. जनसंख्या (population):—गांधीजी का विचार था कि अधिक जनसंख्या देश के लिए हानिकारक होती है। किसी देश में उतनी ही जनसंख्या होनी चाहिए जिसका पालन पोषण वह देश सुविधा पूर्वक कर सके। खाद्य पदार्थों की अपेक्षा जनसंख्या अधिक तेजी से बढ़ने पर बड़ी आयु में विवाह, आत्म संयम आदि से उसे रोकना चाहिए। वे कृत्रिम उपायों द्वारा जनसंख्या पर रोक के विरोधी थे।

10. वितरण और राजस्व सम्बन्धी विचार (Ideas regarding distribution and Public Finance):—वे समाज में धन के

समान वितरण के पक्षपाती थे । वे धन के केन्द्रीयकरण के विरोधी थे । करों के सम्बन्ध में उनका विचार था कि कर लगाते समय कर दान क्षमता का ध्यान रखना चाहिए और उतनी ही मात्रा में कर लिया जाना चाहिए जितनी मात्रा में वह भुगतान कर सके । नमक जैसी निर्धनों के काम आने वाली और अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं पर कर नहीं लगाना चाहिए ।

11. कृषि संबंधी विचार:—गांधीजी ने कृषि उद्योग को महत्व दिया है । उनके मतानुसार देश की आर्थिक उन्नति के लिए कृषि की उन्नति आवश्यक है । किन्तु कृषि की उन्नति के लिए जमींदारी प्रथा की समाप्ति के वे समर्थक थे जिसके कारण कृषकों का शोषण होता है और उनमें उत्पादन की प्रेरणा समाप्त हो जाती है । इसी प्रकार गांधीजी ग्रामीण साहूकारों पर प्रतिबन्ध लगाकर निर्धन किसानों को इनके शोषण से बचाना चाहते थे ।

सर्वोदय (Sarvodaya)—गांधीजी अपने विचारों के अनुसार जिस अर्थ व्यवस्था को स्थापित करना चाहते थे उसे सर्वोदय अर्थ व्यवस्था कहते हैं । सर्वोदय शब्द सर्व + उदय से मिलकर बना है जिसका तात्पर्य होता है सबका उदय, सबका कल्याण, सबका हित । डार्विन ने मत्स्य न्याय (Survival of the fittest) के सिद्धांत द्वारा बताया कि केवल शक्तिशाली प्राणियों को ही जीने का अधिकार है । थी हक्सले (Huxley) आदि ने इससे आगे बढ़कर "जीओ और जीने दो" (Live and let live) का विचार दिया । उपयोगितावादी एक कदम और आगे बढ़े । उन्होंने अधिकाधिक व्यक्तियों के भले (Greatest good of the Greatest Number) की बात सोची किन्तु रस्किन से प्रभावित महात्मा गांधी एक कदम और आगे बढ़े उन्होंने सर्वोदय की बात चाही । उनके अनुसार समाज व्यवस्था ऐसा होनी चाहिए जिसमें सब व्यक्ति सुखी हों, सब को रोजगार मिले, सबको उन्नति के समान अवसर मिलें । वे "सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु" की क्रियान्विति चाहते थे । इस प्रकार महात्मा गांधी जिस समाज की स्थापना के स्वप्न द्रष्टा थे वह सर्वोदय समाज था ।

इस प्रकार समाजवाद या साम्यवाद और गांधीवाद के बीच में एक बड़ी खाई है जो एक दूसरे को अलग किये हुए है। किन्तु भारत का समाजवाद गांधीवाद पर आधारित है जिसमें अहिंसा जनतांत्रिक जीवनपद्धति और सर्वोदय अर्थ व्यवस्था के सिद्धांतों का समावेश किया गया है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—

गांधीजी मूल रूप से अर्थशास्त्री नहीं थे। उनके आर्थिक विचारों का तो देश की निर्धनता, बेरोजगारी आदि समस्याओं के अध्ययन के साथ क्रमिक विकास हुआ है। अतः कहीं कहीं उनके विचार आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है, अवैज्ञानिक है और उनमें असंगति पाई जाती है। सैद्धांतिक तथ्य बहुत से गांधीवादी विचारों की पुष्टि नहीं करते। गांधीजी की आलोचना इसलिये भी की जाती है कि वे उद्योगवाद और यन्त्रों के बढ़ते हुए उपयोग के विरुद्ध थे। चर्खे और खादी से लाखों व्यक्तियों को रोजगार मिल सकता है किन्तु वह सब आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति के युग में ग्राम स्वावलंबन, विकेन्द्रीकरण, कुटीर और ग्रामीण उद्यागों को आदर्श और औद्योगिकरण, तथा यांत्रिक उत्पादन की उपेक्षा देश की मौलिक उन्नति में बाधक होगी और विश्व के अन्य देशों की तुलना में उसे सैकड़ों वर्ष पीछे छोड़ देगी। इससे देश आर्थिक उन्नति नहीं कर सकेगा और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा के इस युग में पिछड़ जायेगा।

किन्तु महात्मा गांधी के सभी आर्थिक विचार अनुपयुक्त हों ऐसी बात नहीं है। उनका स्वदेशी तथा कुटीर और ग्रामीण उद्योग धन्धों के विकास का विचार भारत में बेरोजगारी मिटाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार निजी सम्पत्ति के बारे में उनके विचार वैधानिक और शांतिपूर्ण तरीकों से आर्थिक विषमता और शोषण की समाप्ति का उपाय विधान सम्मत और भारतीय संस्कृति के अनुरूप है। यही कारण है कि गांधीजी के आर्थिक विचारों का प्रभाव

भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी पड़ा है। भारत में तो गांधी जी के विचारों के अनुसार कुटीर और घरेलू उद्योगों का विकास, स्वदेशी सामान का उपयोग, धन के समान वितरण के प्रयत्न, ग्रामों के उत्थान, कृषि विकास आदि को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

सारांश

भारत के राष्ट्रपिता और स्वतन्त्रता संग्राम के महान सेनानी महात्मा गांधी यद्यपि मूल रूप में राजनीतिज्ञ थे किन्तु उनकी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में उनके आर्थिक विचार यत्र-तत्र मिलते हैं जिन्होंने देश के विचारों और आर्थिक नीतियों को प्रभावित किया है। गांधीजी के इन आर्थिक विचारों को गांधीवादी अर्थशास्त्र और उन पर आधारित अर्थव्यवस्था को सर्वोदय अर्थव्यवस्था, कहते हैं।

गांधीजी के मुख्य आर्थिक विचार हैं:—(1) मानव कल्याण को अधिक महत्व देना और नैतिकता को आर्थिक क्रियाओं का आधार मानना (2) आर्थिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती (3) आत्म निर्भरता के स्वप्नद्रष्टा (4) विकेन्द्रित उत्पादन के समर्थक (5) निजी सम्पत्ति को धरोहर मानना (6) यंत्रों के न्यूनातिन्यून उपयोग के हामी (7) श्रम के सम्मानदाता (8) वर्णव्यवस्था का आधार श्रम विभाजन होना (9) अनुकूलतम जन संख्या रखना (10) वितरण और राजस्व सम्बन्धी विचार (11) कृषि सम्बन्धी विचार।

सर्वोदय:—सर्वोदय का उद्देश्य शोषण से मुक्त ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना है जिसमें सब व्यक्तियों को आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समानता, स्वतन्त्रता और न्याय प्राप्त हो जिसमें सब व्यक्तियों का हित हो।

गांधीजी के आर्थिक विचार और समाजवाद:—गांधीवाद समाजवाद से पूंजीवाद का विरोध, निर्धन हित कामना, वर्गरहित समाज की स्थापना,

समाप्ति, राज्य के कार्य क्षेत्र को सीमित करने आदि विचारों के कारण समानता पाई जाती है किन्तु वास्तव में दोनों में भारी असमानता है। निजी सम्पत्ति की समाप्ति, उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन बड़े पैमाने के उत्पादन, केन्द्रीयकरण, वर्ग संघर्ष, यन्त्रों के उपयोग आदि के बारे में दोनों के विचार परस्पर विरोधी हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकन:—सैद्धान्तिक तथ्य बहुत से गांधीवादी विचारों की पुष्टि नहीं करते। वैज्ञानिक युग में ग्राम स्वावलम्बन, विकेन्द्रीकरण, यंत्रों के उपयोग और बड़े पैमाने के उत्पादन की उपेक्षा आदि विचार ऐसे ही हैं। किन्तु ग्रामोत्थान, स्वदेशी, शारीरिक श्रम की महत्ता, ग्रामीण और कुटीर उद्योगों का विकास आदि विचार भारतीय परिस्थितियों के अनुसार बड़े उपयुक्त हैं।

प्रश्न

1. महात्मा गाँधी के मुख्य आर्थिक विचारों का वर्णन कीजिये।
2. महात्मा गाँधी के विचार भारत की परिस्थतियों के संदर्भ में उपयुक्त थे। इस कथन की विवेचना कीजिये।
3. गाँधीवादी अर्थ शास्त्र की आलोचनामक समीक्षा कीजिये।
4. टिप्पणियां लिखिये—

सर्वोदय अर्थ व्यवस्था, महात्मा गाँधी के विचारों को प्रभावित करने वाली बातें, समाजवाद और गाँधीवाद, वर्तमान आर्थिक नीतियों पर गांधीजी का प्रभाव।

नियोजित अर्थ व्यवस्था

PLANNED ECONOMY

"आर्थिक नियोजन हमारे युग की रामबाण (Panacca) है।"

—ल्यायोनेल राबिन्स

नियोजन का अर्थ (Meaning of Planning)—मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी पूर्ति के साधन सीमित हैं। अतः वह अपने सीमित साधनों को विभिन्न आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए इस प्रकार उपयोग में लाता है जिससे उसे अधिकाधिक सन्तुष्टि प्राप्त हो। वह सोच विचार करके यह निश्चित करता है कि कौनसी आवश्यकताएँ अधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक हैं तथा उन्हें पहले सन्तुष्ट करता है। शेष आवश्यकताओं की बाद में सन्तुष्टि की जाती है या छोड़ दी जाती है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की अधिकतम सन्तुष्टि के लिए एक विशेषक्रम या योजनाबद्ध तरीके से अपने सीमित साधनों का उपयोग करता है उसी प्रकार एक देश भी अपने राष्ट्रीय साधनों का एक विशेष क्रम या योजना के अनुसार उपयोग करता है। जिससे अधिकाधिक सामूहिक हित हो क्योंकि एक देश की आवश्यकताएँ भी अनन्त होती हैं और उसके पास भी साधन सीमित होते हैं अतः योजना बनाने या नियोजन का अर्थ है कि किसी उद्देश्य को लेकर कार्य करना और चयन करना

समाप्ति, राज्य के कार्य क्षेत्र को सीमित करने आदि विचारों के कारण समानता पाई जाती है किन्तु वास्तव में दोनों में भारी असमानता है। निजी सम्पत्ति की समाप्ति, उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन बड़े पैमाने के उत्पादन, केन्द्रीयकरण, वर्ग संघर्ष, यन्त्रों के उपयोग आदि के बारे में दोनों के विचार परस्पर विरोधी हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकनः—सैद्धान्तिक तथ्य बहुत से गांधीवादी विचारों की पुष्टि नहीं करते। वैज्ञानिक युग में ग्राम स्वावलम्बन, विकेन्द्रीकरण, यंत्रों के उपयोग और बड़े पैमाने के उत्पादन की उपेक्षा आदि विचार ऐसे ही हैं। किन्तु ग्रामोत्थान, स्वदेशी, शारीरिक श्रम की महत्ता, ग्रामीण और कुटीर उद्योगों का विकास आदि विचार भारतीय परिस्थितियों के अनुसार बड़े उपयुक्त हैं।

प्रश्न

1. महात्मा गांधी के मुख्य आर्थिक विचारों का वर्णन कीजिये।
2. महात्मा गांधी के विचार भारत की परिस्थितियों के संदर्भ में उपयुक्त थे। इस कथन की विवेचना कीजिये।
3. गांधीवादी अर्थ शास्त्र की आलोचनामक समीक्षा कीजिये।
4. टिप्पणियां लिखिये—

सर्वोदय अर्थ व्यवस्था, महात्मा गांधी के विचारों को प्रभावित करने वाली बातें, समाजवाद और गांधीवाद, वर्तमान आर्थिक नीतियों पर गांधीजी का प्रभाव।

19

नियोजित अर्थ व्यवस्था
PLANNED ECONOMY

"आर्थिक नियोजन हमारे युग की रामबाण (Panacea) है।"

—स्पायोनेस राबिन्स

नियोजन का अर्थ (Meaning of Planning)—मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी पूर्ति के साधन सीमित हैं। अतः वह अपने सीमित साधनों को विभिन्न आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए इस प्रकार उपयोग में लाता है जिससे उसे अधिकाधिक सन्तुष्टि प्राप्त हो। वह सोच विचार करके यह निश्चित करता है कि कौनसी आवश्यकताएँ अधिक महत्वपूर्ण और आग्रहपूर्ण हैं तथा उन्हें पहले सन्तुष्ट करता है। शेष आवश्यकताओं की बाद में सन्तुष्टि की जाती है या छोड़ दी जाती है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि के लिए एक विशेषक्रम या योजनाबद्ध तरीके से अपने सीमित साधनों का उपयोग करता है उसी प्रकार एक देश भी अपने राष्ट्रीय साधनों का एक विशेष क्रम या योजना के अनुसार उपयोग करता है। जिससे अधिकाधिक सामूहिक हित हो क्योंकि एक देश की आवश्यकताएँ भी अनन्त होती हैं और उसके पास भी साधन सीमित होते हैं अतः योजना बनाने या नियोजन का अर्थ है कि किसी उद्देश्य को लेकर कार्य करना और चयन करना। एक राष्ट्र

के लिए आर्थिक कियोजन का अर्थ होता
निश्चित उद्देश्य को दृष्टि में रखकर
और समन्वित उपयोग करना जिससे
ताओं की सन्तुष्टि हो। आर्थिक न
केन्द्रीकृत नियन्त्रण और सचेत प्रबन्ध
के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापि
कल्याण और सुविचारित निश्चित
राष्ट्र के हित को प्रमुखता दी जाती

आर्थिक नियोजन की परिभाषा
(Definition of Economic

प्रो० हेयेक (Prof. Ha,
अर्थ है "एक केन्द्रीय सत्ता द्व.

श्री एच० डी० ...
"प्रमुख आर्थिक निर्णय क
समस्त अर्थ व्यवस्था के
सत्ता द्वारा विचार पूर्वक
कितना उत्पादन किया
जायेगा।"

डा० डाल्टन (Dr
आर्थिक योजना से अ
विशेष प्रसाधन हों नि
का संचालन करना है।

श्रीमती बारबरा
"आयोजन का अर्थ है
जान बूझकर आर्थिक

नियोजित और अनियोजित
Planned and Uuplann

ऐसी अर्थ व्यवस्था ज

नियोजन के अनुसार होता नियोजित अर्थ व्यवस्था (Planned Economy) कहते हैं। अतः आर्थिक नियोजन और नियोजित अर्थ व्यवस्था एक ही बात है।

श्री लिविस लार्विन (Lewis Larwin) के अनुसार "नियोजित अर्थ व्यवस्था आर्थिक सगठन की ऐसी योजना है जिसमें व्यक्तिगत तथा अलग-अलग इकाइयों, उपक्रमों और उद्योगों को एक सम्पूर्ण प्रणाली की समन्वित इकाइयां माना जाता है जिसका उद्देश्य एक निश्चित अवधि में उपलब्ध साधनों के प्रयोग द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना होता है।" नियोजित अर्थ व्यवस्था में उत्पादन, रोजगार, राष्ट्रीय आय और जीवन स्तर में विकास एक साथ होता है और यह विकास एक केन्द्रीय संस्था द्वारा एक निश्चित योजना के अन्तर्गत होता है। इसके विपरीत अनियोजित अर्थ व्यवस्था (Unplanned Economy) में आर्थिक क्रियाओं में स्वतन्त्रता रहती है। राज्य आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करता है और अर्थ व्यवस्था के संचालन के लिए कोई सुविचारित उद्देश्य और योजना नहीं होती है।

नियोजित अर्थ व्यवस्था की विशेषताएं —
(Characteristcs of Planned Economy)

नीचे आर्थिक आयोजन या नियोजित अर्थ व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं दी हुई हैं जिससे इनके अर्थ को समझने में और सहायता मिलेगी—

(1) एक केन्द्रीय नियोजन सत्ता (Central Planning Authority)—नियोजित अर्थ व्यवस्था में अर्थ व्यवस्था को स्वयं संचालन के लिए नहीं छोड़ा जाता है। उसका संचालन, नियन्त्रण और निर्देशन सरकार द्वारा होता है जिसका समस्त कार्य सरकार एक केन्द्रीय संस्था या सत्ता को सौंप देती है। यह केन्द्रीय नियोजन संस्था ही देश की आवश्यकताओं और उपलब्ध साधनों को ध्यान में रखकर योजन बनाती है और उन्हें क्रियान्वित करती है।

(3) पूर्व निर्धारित उद्देश्य (Pre determined objectives)—नियोजित अर्थ व्यवस्था में जान बूझकर और सोच विचार कर उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। प्रायः कृषि, उद्योग आदि के उत्पादन में वृद्धि, तीव्र आर्थिक विकास, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, आर्थिक विषमता को दूर करना आदि उद्देश्य व्यापक उद्देश्य निश्चित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न कार्यक्रमों के व्यक्तिगत रूप से लक्ष्य (Targets) निर्धारित किये जाते हैं। इसमें उत्पादन क्रिया का उद्देश्य मुख्य रूप से सामाजिक कल्याण होता है।

(2) प्राथमिकतायें (Priorities)—एक देश के साधन सीमित होते हैं और उसकी आवश्यकतायें अनन्त होती हैं तथा नियोजन के उद्देश्य अनेक और प्रतिस्पर्धी होते हैं। अतः नियोजित अर्थ व्यवस्था में केन्द्रीय सत्ता उद्देश्यों के बीच प्राथमिकतायें निर्धारित करती है। और राष्ट्रीय साधनों का वितरण इन प्राथमिकताओं के अनुसार किया जाता है।

नियोजित अर्थ व्यवस्था की विशेषतायें

1. केन्द्रीय नियोजन सत्ता
2. पूर्व निर्धारित उद्देश्य
3. प्राथमिकतायें
4. निश्चित अवधि
5. समन्वित अर्थ व्यवस्था
6. व्यापक क्षेत्र
7. दीर्घकालीन दृष्टिकोण
8. लोचपूर्ण होना

(4) निश्चित अवधि (Given Period)—निर्धारित किये हुए उद्देश्यों को प्रायः एक निश्चित समयावधि में पूर्ण करने के प्रयत्न किये जाते हैं। भारत में यह अवधि पांच वर्ष है।

(5) समन्वित अर्थ व्यवस्था (Co-ordinated Economy)—आर्थिक नियोजन में राष्ट्र के साधनों का तांत्रिक समन्वय होता है। अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों और अंगों में भी समन्वय स्थापित करके सन्तुलित आर्थिक विकास का प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संरचनात्मक (Structural) परिवर्तन भी

किये जाते हैं। नियोजित अर्थ व्यवस्था में आर्थिक विकास के लिए संगठित और सुव्यवस्थित प्रयत्न किये जाते हैं और उनमें परस्पर ताल-मेल होता है।

(6) व्यापक क्षेत्र (Comprehensive Scope)—नियोजित अर्थ व्यवस्था में नियोजन का क्षेत्र व्यापक होता है। इसमें सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था और अर्थ व्यवस्था के समस्त भागों के लिए आयोजन किया जाता है। उन्नतिशील देशों में कभी-कभी केवल कुछ भागों (Sectors) के विकास के लिए ही आयोजन किया जाता है किन्तु इसे नियोजित अर्थ व्यवस्था नहीं कह सकते।

(7) दीर्घकालीन दृष्टिकोण (Perspective View)—नियोजन एक दीर्घ कालीन और निरन्तर प्रक्रिया है। अतः नियोजित अर्थ व्यवस्था में दीर्घ कालीन दृष्टिकोण अपनाया जाता है। न केवल वर्तमान आवश्यकताओं अपितु दीर्घ कालीन आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए उद्देश्य निश्चित किये जाते हैं और योजनाओं का निर्माण किया जाता है। अल्पकालीन योजनाओं का इन दीर्घकालीन योजनाओं (15-25 वर्ष) के साथ समन्वय किया जाता है। दीर्घ कालीन नियोजन ही नियोजन प्रक्रिया का सार है।

(8) लोचपूर्ण (Elasticity) होना—योजना एक बहते हुए प्रवाह के समान होती है और बदली हुई आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार इसे बदला या समायोजित किया जा सकता है। सांख्यकीय तकनीकी कितने ही अच्छे हों किन्तु फिर भी त्रुटि होने की संभावनायें रहती हैं। अतः अर्थ व्यवस्था में नियोजन के दौरान जो भूल आयोजन अनुभव हों उन्हें सुधारना आवश्यक है अतः एक सीमा तक आयोजन लोच पूर्ण होता है।

अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि आर्थिक नियोजन के निम्न आवश्यक तत्व होते हैं—(1) समस्त आर्थिक साधनों पर व्यक्तियों के स्थान पर एक केन्द्रीय सत्ता का नियन्त्रण रहना चाहिए। (2) आर्थिक योजना बनाने का एक उद्देश्य होना चाहिए (3) निश्चित प्राप्ति के लिए एक निश्चित अवधि होनी चाहिए।

उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समस्त साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग होना चाहिए। (5) आर्थिक योजना सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र की होनी चाहिए।

नियोजित और अनियोजित अर्थ व्यवस्था में अन्तर

नियोजित और अनियोजित अर्थ व्यवस्था में मुख्य भेद की बातें निम्न हैं—

नियोजित अर्थ व्यवस्था (Plannned Economy)	अनियोजित अर्थ व्यवस्था (Unplanned Economy)
1. इसमें देश के सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र के विकास के लिए योजना बनाई जाती है।	1. इसमें मांग के अनुसार व्यक्तिगत उत्पादन की योजना बनाई जाती है।
2. उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है।	2. निजी लाभ का उद्देश्य सर्वोपरि होता है।
3. इसमें उत्पादन के नियन्त्रण और योजना का कार्य केन्द्रीय अधिकारी द्वारा किया जाता है।	3. निजी उद्योगपति ही उत्पादन योजना बनाते और संचालित करते हैं।
4. इनमें प्राथमिकताएं तय की जाती हैं।	4. इसमें प्राथमिकतायें नहीं निर्धारित की जाती हैं।
5. यह नियमित और नियन्त्रित होती हैं।	5. यह स्वतन्त्र और प्रतिस्पर्धा पर आधारित होती है।
6. उत्पादन सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार होता है।	6. उत्पादन मांग के अनुसार होता है।
7. आर्थिक संस्थाओं पर राज्य का नियंत्रण रहता है।	7. राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं होता है।
8. सदा कोई न कोई सार्वजनिक उद्देश्य होता है।	8. इसमें कोई ऐसा उद्देश्य नहीं होता है।
9. यह एक सचेत और विचारपूर्ण व्यवस्था है।	9. यह आकस्मिक अर्थ व्यवस्था है।

आर्थिक नियोजन के उद्देश्य—

ये सब देशों और एक ही देश के लिए सब समय पर नियोजन के उद्देश्य आर्थिक विकास की दशा राजनीतिक ढांचा और अन्य परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रहते हैं। किंतु फिर भी नियोजन के सामान्य उद्देश्य होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

(अ) आर्थिक उद्देश्य

1. राष्ट्रीय आय में वृद्धि और जीवन स्तर को ऊंचा करना।
2. आर्थिक जीवन में स्थिरता लाना।
3. पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना।
4. कृषि का विकास करना।
5. तीव्र औद्योगिक विकास करना।
6. आर्थिक विषमता को दूर करना।
7. संतुलित आर्थिक विकास करना।
8. युद्धोत्तर पुनर्निर्माण करना।

(ब) सामाजिक उद्देश्य

1. सामाजिक समानता बढ़ाना।
2. समाजिक सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था करना।

(स) राजनीतिक उद्देश्य

1. सुरक्षा की दृष्टि से देश को शक्तिशाली बनाना।
2. आक्रमण की दृष्टि से देश को तैयार करना।
3. शांति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियोजन करना।

आर्थिक नियोजन का महत्व (Importance of Economic Planning)—आज आर्थिक नियोजन अनेक राष्ट्रों की मान्य आर्थिक नीति है। इसके पूर्व अनियोजित अर्थ व्यवस्था थी जिसमें पूंजीवाद और राज्य द्वारा निर्हस्तक्षेप की नीति को मान्यता प्राप्त थी। किंतु पूंजीवाद और सरकार द्वारा हस्तक्षेप न करने के दोषपूर्ण परिणाम स्वरूप आर्थिक नियोजन का विकास हुआ। पूंजीवादी अर्थ सामाजिक और आर्थिक असमानता, निर्धन श्रमिकों का श

संघर्ष, व्यापार चक्र, आर्थिक संकट तथा वेकारी आदि ने पूंजावाद की उपयोगिता में शंका उत्पन्न करके राज्य द्वारा अर्थ व्यवस्था का नियोजन और योजनावद्ध तरीके से अर्थ व्यवस्था के संचालन का पथ प्रशस्त कर दिया । रूस की योजनाओं के द्वारा एक थोड़े से समय में अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक आर्थिक प्रगति ने विश्व के समस्त देशों को योजनावद्ध अर्थ व्यवस्था को अपनाने के लिए प्रेरित किया। आज विश्व के अधिकांश देशों ने योजनावद्ध अर्थ व्यवस्था को अपनाया है। विशेष रूप से अर्घ विकसित और अविकसित देशों ने योजना के द्वारा आर्थिक विकास के मार्ग को अपनाया है और उसमें पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। दिन प्रति दिन विश्व की सरकारें और जनमत नियोजन के पक्ष में होता जा रहा है। आज प्रश्न यह नहीं है कि नियोजन क्यों, किंतु यह है कि नियोजन क्यों नहीं ? वास्तव में विश्व के जिन देशों ने नियोजित अर्थ व्यवस्था को अपना कर जिस तेजी से आर्थिक विकास करके जनता के जीवन स्तर को ऊंचा वनाया है उससे इसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। ल्याओनेल राविन्स (Lionel Robbins) के शब्दों में "आर्थिक नियोजन हमारे युग का राम बाण है।" नियोजन का महत्त्व उससे होने वाले लाभों से और भी स्पष्ट हो जाता है।

नियोजित अर्थ व्यवस्था के लाभ (Advantages of Planned Econmy) नियोजित और अनियोजित अर्थ व्यवस्था में कौन सी व्यवस्था श्रेष्ठ है इसके लिए हमें नियोजित अर्थ व्यवस्था के गुणावगुणों पर विचार करना आवश्यक है। नीचे नियोजित अर्थ व्यवस्था के लाभ दिये हुए हैं—

(1) निर्णयों और कार्यों में समुचित समन्वय (Co-ordination between decisions and Actions)—नियोजित अर्थ व्यवस्था में एक केन्द्रीय संस्था या अधिकारी विभिन्न आर्थिक निर्णय लेता है और इन्हें क्रियान्वित करने के लिए एक समन्वित कार्यक्रम वनता है जिससे कुसमायोजनों (Mal-adjustments), अधिक उत्पादन और न्यून उत्पादन के लिए अवसर नहीं रहता। इसके विपरीत अनियोजित अर्थ व्यवस्था "मुंदे हुये नेत्र वाली अर्थ व्यवस्था (Economy

with closed eyes)" होती है जिसमे असंख्य उत्पादक और व्यापारी मनमाने निर्णयों के अनुसार असमन्वित ढंग से उत्पादन कार्य करते हैं। इससे कभी अधिक उत्पादन तो कभी न्यून उत्पादन की समस्यायें उत्पन्न होती हैं। प्रो. लर्नर (Prof. Lerner) ने अनियोजित अर्थ-व्यवस्था की तुलना एक चालक रहित मोटर से की है जिसमें यात्रा करने वाले समस्त यात्री स्टीयरिंग व्हील के पास पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं ताकि इसे घुमा सकें जबकि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में यह निर्णय कर दिया जाता है कि उसे कौन घुमायेगा।

(2) राष्ट्रीय साधनों का पूर्ण और उचित उपयोग (Fuller and right use of National Resources)—नियोजित अर्थ व्यवस्था अनियोजित अर्थ व्यवस्था की अपेक्षा दूरदर्शितापूर्ण होती है। इसमें साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग होता है। एक नियोजन अधिकारी यह देख सकता है कि कच्चे माल का कहीं तेजी से शोषण तो नहीं हो रहा है या प्राकृतिक साधनों का कहीं अपव्यय तो नहीं हो रहा है। यदि ऐसी बुराइयां सामने आती हैं तो उन्हें दूर करने के लिए वह तत्काल उपाय करता है जबकि अनियोजित अर्थ-व्यवस्था मे निजी उत्पादकों का अल्प समय और अल्प क्षेत्र पर ध्यान होने के कारण इन बुराइयों पर ध्यान नहीं जाता है। प्रो. डार्विन (Prof. Darwin) ने इस विषय में ठीक ही कहा है कि पहाड़ पर खड़े अधिकारी मैदान में लड़ रहे सैनिकों की अपेक्षा युद्ध स्थल का अधिक अच्छा निरीक्षण कर सकते हैं।

(3) निर्धनता का शीघ्र निवारण (Speedy removal of Poverty)-नियोजित अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय साधनों का पूर्ण और उचित उपयोग किया जाता है। इसमें अर्थ-व्यवस्था का समन्वित रूप से संचालन किया जाता है। और निश्चित उद्देश्यों के अनुसार उत्पादन में वृद्धि के प्रयत्न किये जाते हैं। इन सबके कारण उत्पादन, राष्ट्रीय आय और जीवनस्तर में वृद्धि होती है और निर्धनता का शीघ्र ही निवारण होता है।

(4) व्यापारिक संकटों से रक्षा (Safety

Cycles) अनियोजित अर्थव्यवस्था की एक बड़ी दुर्बलता व्यापार चक्र है जबकि नियोजित अर्थव्यवस्था में उत्पादन मांग के अनुसार करके इनसे मुक्ति पाई जाती है। सन् 1930 में जबकि सारा विश्व मंदी के दुष्परिणामों से पीड़ित था रूस एक ऐसा देश था जो इनसे बचा हुआ था।

(5) आर्थिक समानता में वृद्धि:—(Increase in Economic Equalities):—अनियोजित अर्थव्यवस्था में स्वयं चालक मूल्य यंत्र और लाभ उद्देश्य के कारण धनिक वर्ग और अधिक धनी एवं निर्धन वर्ग और अधिक निर्धन होता जाता है। किन्तु नियोजित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय नियोजन सत्ता के कारण इस प्रकार की आर्थिक असमानतायें नहीं होती। इसमें धन के अधिक न्याय पूर्ण और समान वितरण का प्रयत्न किया जाता है और सरकार ऐसे कार्यों पर व्यय करती है जो सामान्य जनता के लिए अधिक लाभदायक हों।

नियोजित अर्थव्यवस्था के लाभ

1. निर्णयों और कार्यों में समुचित समन्वय।
2. राष्ट्रीय साधनों का पूर्ण और उचित उपयोग
3. निर्धनता का शीघ्र निवारण
4. व्यापारिक संकटों से रक्षा।
5. आर्थिक समानता में वृद्धि
6. सामाजिक शोषण का अभाव।
7. पूंजी निर्माण की ऊँची दर।
8. उत्पति के साधनों का उचित वितरण
9. प्रतिस्पर्धाजनित अपव्यय का अभाव।

(6) सामाजिक शोषण का अभाव—(Absence of Social Exploitation)—योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में परोपजीविका और अनुपार्जित आय को समाप्त करके शोषण को समाप्त किया जाता है। वर्गहीन समाज की स्थापना और बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था आदि के समय व्यक्तियों को संरक्षण दिया जाता है। श्रमिकों का स्तर ऊँचा करने और रोजगार की दशा स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

(7) पूंजी निर्माण की ऊँची दर (High rate of Capital Formation):—नियोजित अर्थ-

व्यवस्था में सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त लाभ व्यक्तियों की जेबों में नहीं जाकर सरकार को प्राप्त होता है जिससे वह वस्तुओं को कय कर सकती है। इस प्रकार पूंजी निर्माण तेज गति से होता है।

(8) उत्पत्ति के साधनों का उचित वितरण (Right allocation of the Means of Production)—आर्थिक नियोजन में प्राथमिकताओं के अनुसार केन्द्रीय सत्ता साधनों का वितरण करती है। उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जो समाज के लिए सबसे आवश्यक हो। इससे साधनों का उचित वितरण होता है। प्रो हेरिस (Prof. Harris) ने ठीक ही कहा है कि यह केवल अमेरिका में ही संभव है कि मादक वस्तुओं के उत्पादन पर 7 बिलियन का व्यय किया जाय जबकि सामाजिक सुरक्षा और शिक्षा पर क्रमशः केवल 2 और 3 बिलियन व्यय हो।

(9) प्रतिस्पर्धाजनित अपव्ययों का अभाव (Absence of wastes Caused by Competition)—स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था में प्रतिद्वन्दी उत्पादक विज्ञापन और विक्रय कला आदि पर विशाल धन राशि व्यय करते हैं। नियोजित अर्थ व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा अत्यन्त सीमित होने के कारण यह सब व्यय बच जाते हैं।

(10) उपभोक्ताओं को शोषण से मुक्ति—अनियन्त्रित अर्थ व्यवस्था में वस्तुओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न करके तथा एकाधिकार और औद्योगिक जमाखोरी द्वारा उपभोक्ताओं का भारी शोषण किया जाता है और ऊंचे मूल्य लिये जाते हैं। नियोजित अर्थ व्यवस्था में यह सब नहीं होने दिया जाता है।

(11) युद्ध काल के लिये भी उपयुक्त (Suitable for war time)—युद्ध या किसी आकस्मिक संकट के समय नियोजित अर्थ व्यवस्था ही उपयुक्त रहती है और अनियोजित अर्थ व्यवस्था ठीक प्रकार कार्य नहीं कर पाती। प्रायः ऐसे समय अनियोजित अर्थ व्यवस्था का स्थान नियोजित अर्थ व्यवस्था ग्रहण कर लेती है।

(12) सामाजिक लागतों में कमी (Less Social Costs)—स्वतंत्र उपक्रम अर्थ व्यवस्था में औद्योगिक बीमारियों, चक्राकार बेकारी, अत्यन्त गौरमान्य औद्योगिक दुर्घटनायें आदि हानियां होती हैं। इन्हें सामाजिक लागतें (Social Costs) कहा जाता है जिनका आर्थिक नियोजन द्वारा निराकरण या कमी की जा सकती है।

(13) अर्धविकसित देशों के लिए आवश्यक (Necessary for Under developed countries)—अर्ध विकसित देशों के द्रुत आर्थिक विकास के लिए तो यह व्यवस्था अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसमें साधनों का अधिकतम उपयोग, प्राथमिकताओं के अनुसार उचित वितरण है और तीव्रगति से पूंजी निर्माण होता है। सिचाई, यातायात, विद्युतकरण, इत्यादि योजनाओं में निजी व्यक्ति पूंजी नहीं लगाना चाहते। सरकार निश्चित योजना के अनुसार इनमें पूंजी लगा सकती है जिससे देश की तेजी से आर्थिक प्रगति हो सके।

नियोजित अर्थ व्यवस्था के दोष

(Disadvantages of Planned Economy)

(1) **स्वतन्त्रता की समाप्ति** (End of Freedom)—योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था में अर्थ व्यवस्था पर कई प्रकार के नियन्त्रण लगाये जाते हैं जिससे व्यक्तियों की आर्थिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। व्यक्तियों की व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता और उपभोक्ताओं की प्रभुसत्ता समाप्त हो जाती है। वे केवल उन्हीं वस्तुओं का ही उपयोग कर सकते हैं जिनका सरकार उत्पादन करती है। प्रायः वस्तुओं का राशन करके उनके उपभोग की मात्रा भी सीमित कर दी जाती है। इन्हीं कारणों से प्रो. हेयक (Prof. Hayek) ने इसे "दासता का मार्ग" (Road to Serfdom) बतलाया है।

(2) **भ्रष्टाचार और अकुशलता** (Inefficiency and corruption)—प्रतियोगिता की अनुपस्थिति के कारण कर्मचारी शिथिल और कम सतर्क हो जाते हैं। अधिकारियों की नियुक्ति योग्यता के बजाय राजनीतिक विचारों के आधार पर की जाती है। नियोजन की

सफलता के लिए बहुत बड़ी मात्रा में योग्य, ईमानदार, और प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। ये लोग इतनी सुगमता से नहीं प्राप्त होते। समस्त अर्थ-व्यवस्था के नियोजन का कार्य अत्यन्त जटिल और व्यापक होता है जिसके सफल संचालन के लिए सामान्य व्यक्ति नहीं अर्द्ध देवता चाहिए। सामान्यतया सरकारी कर्मचारी भ्रष्ट होते हैं और सरकारी धन और सामान की कोई परवाह नहीं करते। इन सब का परिणाम भ्रष्टाचार और अकुशलता होता है।

नियोजित अर्थ व्यवस्था के दोष

1. स्वतन्त्रता की समाप्ति
2. भ्रष्टाचार और अकुशलता
3. प्रेरणा की कमी
4. साधनों का अविवेकपूर्ण वितरण
5. ऊंची प्रशासन लागत
6. शक्ति का केन्द्रीयकरण

(3) प्रेरणा की कमी (Lack of Inspiration)—इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था में कार्य सुधार के लिए श्रमिकों और कर्मचारियों में प्रेरणा का अभाव होता है क्योंकि इनके ग्रेड, वेतन और कार्य दशायें पूर्व निर्धारित होती हैं। व्यक्तिगत पहल और साहस के लिए कोई अवसर नहीं होता।

(4) साधनों का अविवेकपूर्ण वितरण (Irrational distribution of the Resources)—अनियोजित अर्थ व्यवस्था में मूल्य यन्त्र साधनों की विभिन्न उपयोगों में विवेकपूर्ण तरीके से वितरण करता है। इसके विपरीत आयोजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था में साधनों का वितरण केन्द्रीय सत्ता द्वारा मनमाने तरीके से किया जाता है। अतः इसके अविवेकपूर्ण होने की सम्भावना रहती है।

(5) ऊँची प्रशासन लागतें (High Costs of Administration)—प्रो. लेविस (Prof. Lewis) ने बतलाया है कि आयोजन के लिए विस्तृत गणनाओं, अनगिनत फार्मों और कर्मचारियों की एक विशाल सेना की आवश्यकता होती है। इससे प्रशासन लागत बहुत बढ़ जाती है।

(6) शक्ति का केन्द्रीयकरण (Centralisation of Power)—आर्थिक नियोजन में समस्त शक्ति और निर्णय का अधिकार थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में ही एकत्रित हो जाता है। इससे एक त्रुटि का असर सब लोगों पर पड़ता है। नियोजित अर्थ व्यवस्था में सरकार तानाशाह बन जाती है और इससे जनतांत्रिक अधिकारों को खतरा उत्पन्न हो जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्थिक नियोजन लाभदायक है और जो कुछ इसके दोष हैं उन्हें भी कम या समाप्त किया जा सकता है। सोवियत संघ ने नियोजन द्वारा महान भौतिक प्रगति की है। यही कारण है कि आधुनिक युग में नियोजन के महत्व को स्वीकार कर लिया गया है। आज विश्व में कोई भी देश ऐसा नहीं है जो पूर्ण रूप से अहस्तक्षेप की नीति में विश्वास करता हो। अधिकांश देशों में नियोजन को अपनाया जा रहा है किन्तु प्रयत्न यह होना चाहिये कि आर्थिक नियोजन करते समय व्यक्ति की आधारभूत स्वतन्त्रता का हनन न हो। भारत का जनतांत्रिक नियोजन (Democratic Planning) इस ओर प्रशंसनीय प्रयास है।

सारांश

नियोजन का अर्थ—आर्थिक नियोजन का आशय राष्ट्रीय साधनों के विवेकपूर्ण उपयोग केन्द्रीकृत नियन्त्रण और सचेत प्रबन्ध से है जिससे समस्त अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करते हुए अधिकतम सामाजिक कल्याण के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके। इसके निम्न आवश्यक तत्व होते हैं—

(1) समस्त आर्थिक साधनों पर एक केन्द्रीय सत्ता का नियन्त्रण (2) योजना का एक उद्देश्य (3) निश्चित अवधि (4) उद्देश्य पूर्ति के लिए साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग (5) सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र का समन्वित विकास।

नियोजित और अनियोजित अर्थ-व्यवस्था—आर्थिक नियोजन के

आधार पर संचालित अर्थ व्यवस्था कहते हैं। इसमें सरकार अर्थ व्यवस्था पर नियन्त्रण रख करके तीव्र आर्थिक विकास के लिए एक निश्चित योजना के अनुसार प्रयत्न करती है। इसके विपरीत अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में इसके संचालन के लिए सुविचारित योजना और राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता।

नियोजित अर्थ व्यवस्था की विशेषतायें (1) एक केन्द्रीय नियोजन सत्ता (2) पूर्व निर्धारित उद्देश्य (3) प्राथमिकताओं का निर्धारण (4) निश्चित अवधि (5) समन्वित अर्थ व्यवस्था (6) व्यापक क्षेत्र (7) दीर्घकालीन दृष्टिकोण (8) लोचपूर्ण होना।

आर्थिक नियोजन के उद्देश्य

(अ) आर्थिक उद्देश्य—(1) राष्ट्रीय आय में वृद्धि और जीवन स्तर की उच्चता (2) आर्थिक स्थायित्व (3) पूर्ण रोजगार (4) कृषि विकास (5) तीव्र औद्योगिक विकास (6) आर्थिक विषमता को दूर करना (7) संतुलित आर्थिक विकास (8) युद्धोत्तर पुनर्निर्माण करना।

(ब) सामाजिक उद्देश्य—सामाजिक समानता (2) सामाजिक सुरक्षा की अच्छी व्यवस्था करना।

(स) राजनीतिक उद्देश्य—(1) देश की सुरक्षा (2) आक्रमण की दृष्टि से तैयारी (3) शांति की स्थापना।

नियोजित अर्थ व्यवस्था के लाभ—(1) निर्णयों और कार्यों में समुचित समन्वय (2) राष्ट्रीय साधनों का पूर्ण और उचित उपयोग (3) निर्धनता का शीघ्र निवारण (4) व्यापारिक संकटों से रक्षा (5) आर्थिक समानता में वृद्धि (6) सामाजिक शोषण की समाप्ति (7) पूंजी निर्माण की ऊँची दर (8) उत्पादन के साधनों का उचित वितरण (9) प्रतिस्पर्धा जनित अपव्यय का अभाव (10) उपभोक्ताओं की शोषण से मुक्ति (11) सामाजिक लागतों में कमी (12) युद्धकाल के लिए उपयुक्त (13) अर्ध विकसित देशों के लिए आवश्यक।

नियोजित अर्थ व्यवस्था के दोष—(1) स्वतन्त्रता की समाप्ति। (2) भ्रष्टाचार और अकुशलता। (3) प्रेरणा की कमी। (4) साधनों का अविवेकपूर्ण वितरण। (5) ऊंची प्रशासन लागत। (6) शक्ति का केन्द्रीयकरण।

प्रश्न

1. "आर्थिक नियोजन" का क्या अर्थ है इसकी उचित परिभाषा दीजिये।
2. "नियोजित अर्थ व्यवस्था" से आप क्या समझते हैं ? इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. नियोजित और अनियोजित अर्थ व्यवस्था का क्या आशय है ?
4. नियोजित अर्थ व्यवस्था के गुण व दोषों की की विवेचना कीजिये।
5. "आर्थिक नियोजन हमारे युग का रामवाण है।" इस कथन की विवेचना करते हुए आर्थिक नियोजन का महत्व बतलाइये।
6. आर्थिक नियोजन के क्या उद्देश्य हो सकते है ? भारत में आर्थिक नियोजन के क्या उद्देश्य हैं ?

हायर सैकण्डरी परीक्षा, 1969

प्रारम्भि अर्थशास्त्र—प्रथम पत्र

(Elements of Economics—First Paper) भाग (अ)

1. अर्थशास्त्र की रोबिन्स की परिभाषा समझाकर लिखिये।
2. वस्तु के मूल्य का निर्धारण कैसे होता है, समझाइये।
3. 'ब्याज' का निर्धारण कैसे होता है, समझाइये।
4. सीमान्त तुष्टिगुण ह्रास नियम को समझाइये।
5. चैक क्या होता है ? चैकों के विभिन्न प्रकार समझाइये।
6. कर किसे कहते हैं ? प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों का अन्तर स्पष्ट कीजिये। उदाहरण दीजिये। अथवा

   वितरण किसे कहते हैं ? वितरण की समस्या पर प्रकाश डालिये।
7. आर्थिक जीवन के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ समझाइये।
8. परिवार बजट क्या होता है ? परिवार बजटों के अध्ययन का महत्व समझाइये।
9. निम्नांकित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये:—

   (अ) भूमि की विशेषताएँ। (ब) उत्पादक और अनुत्पादक श्रम। (स) वस्तु-विनिमय की असुविधाएँ।